महर्षि दयानन्द की साधना और सिद्धान्त

निर्वाण शताब्दी पर विशेष भेंट

प्रस्तुत कर्त्ता-
डा० जयदेव वेदालंकार

॥ ओ३म् ॥

महर्षि दयानन्द
की
साधना और सिद्धान्त

निर्वाण शताब्दी पर विशेष भेंट

—: प्रस्तुत कर्त्ता :—

डॉ० जयदेव वेदालंकार

एम० ए० (दर्शन, मनोविज्ञान) पी-एच० डी० दर्शनाचार्य

अध्यक्ष दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल-पत्रिका विशेषांक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक— डॉ० जबर सिंह सेंगर
कुल सचिव

नवम्बर १९८३ कार्तिक २०४० विक्रमी सम्वत्

मूल्य—२० रुपये मात्र

मुद्रक—शर्मा प्रिन्टर्सं, निकट पंजाब नेशनल बैंक, ज्वालापुर

विषय–सूची

प्राक्कथन

महर्षि जैमिनी के पश्चात् महर्षि परम्परा में स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रथम महापुरुष हैं, जिन्होंने शाश्वत सनातन तथा सार्वभौम मानव–धर्मवेद की दुहाई ही नहीं दी, अपितु उसके लोप होने के परिणाम स्वरुप उत्पन्न संसार के समस्त मन्त्र, तन्त्र तथा सम्प्रदायों की विधिवत् समीक्षा की (सत्यार्थ-प्रकाश ११ से १४वें समुल्लास तक) वह स्वयं स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में लिखते हैं "ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त ऋषि-मुनियों द्वारा अनुमोदित और प्रतिपादित सनातन धर्म ही हमारा धर्म है। इसे मानना व मनवाना अपना अभीष्ट है। किन्तु कोई भी नूतन संत, पन्थ अथवा सम्प्रदाय चलाने की किञ्चित्-मात्र भी इच्छा नहीं है।" ऐसा लिखने में उनका हेतु उनके शब्दों में स्पष्ट हैं। "सर्व सत्य का प्रचार कर सबको एक मत में कराके द्वेष छुड़ाकर परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके, सबको सुख लाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।" इस कथन में उनके हृदय में विश्व-शान्ति के लिए ठोस रचनातमक पुरोगम की स्पष्ट आभा मिलती है।

महर्षि ने इस दिशा में स्थायित्व लाने के निमित्त एक आन्दोलन का भी सूत्रपात किया—वह था संसार के श्रेष्ठ पुरुषों का संसार के कल्याण के लिए एक वेदी पर उपस्थित होना। इस आन्दोलन को निरन्तर चालू रखने के लिए संगठन का गठन भी किया, जिसे आर्य समाज अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों का संगठन "Society of the noble men." कहते हैं। महर्षि ने इस आन्दोलन के तीन चरण निश्चित किये– एक ईश्वर, एक धर्म तथा एक विश्व "One God, one religion and one world." संसार में अनेक महापुरुषों ने इस दिशा में अपनी योग्यता तथा क्षमता से अनुसार कार्य किया किन्तु इस मौलिक त्रिसूत्र के अभाव में उनके सम्पूर्ण प्रयास विफल रहे। उदाहरण स्वरूप, मार्क्स का सर्वहारा दर्शन तथा गांधीजी का सर्वोदय। यहाँ एक ईश्वर से तात्पर्य एक प्राप्तव्य— "One

distinction and one God." से है। एक धर्म से अभिप्राय एक आचरण-संहिता से है और एक विश्व से अर्थ एक परिवार से है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का समस्त जीवन सत्य की खोज में ही व्यतीत हुआ। उन्होंने जिसको असत्य समझा, उसको छोड़ा और यह पाया कि वेदों के अन्दर ही अन्तिम सत्य के दर्शन हो सकते हैं।

वे स्वयं अपने विषय में लिखते हैं कि "आर्य-धर्म की उन्नति हो इसलिए मेरे सदृश बहुत से धर्मोपदेशक अपने इस देश में उत्पन्न होने चाहियें। एक व्यक्ति द्वारा यह कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, फिर भी अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुकूल जो दीक्षा मैंने ली है, उसे चलाऊंगा, ऐसा संकल्प किया हुआ है। आर्य समाज की स्थापना सर्वत्र होकर मूर्ति-पूजा आदि दुष्टाचार कहीं न हो, वेदशास्त्र का सत्यार्थ प्रकाशित हो और उसी के अनुकूल आचरण होकर देश की उन्नति हो, ऐसी ही ईश्वर से प्रार्थना है। तुम्हारी सब की सहायता से अन्तःकरण पूर्वक मेरी वह प्रार्थना सिद्ध होगी। ऐसी पूर्ण आशा है और मैंने जो उपकार करना निश्चित किया है जबतक बन सकेगा, आमरण तक करूंगा पुनर्जन्मान्तर में भी।"

वास्तव में स्वामी दयानन्द का जीवन एक ऐसी बहुप्रतिभा का धनी है कि जहां वह वेदों का प्रकाण्ड पण्डित है, शास्त्रों का उद्‌गाता है, वहां वह देश की निर्धनता को देखकर रो पड़ता है।

जब स्वामी दयानन्द गंगा के तट पर समाधि लगाया करते थे तब एक दिन ग्रामीण महिला स्वामी जी के सामने से गुजरी, उस सन्यासी ने देखा कि उस युवती के हाथों में एक बच्चे का शव है। स्वामी जी का कौतूहल बढ़ा। कुछ देर में ही वह कौतूहल आश्चर्य में बदल गया कि उस महिला ने शव को गंगा में प्रवाहित कर दिया और कफन के कपढ़े को धोकर वापिस ले जाने लगी। कहते हैं कि यह देख कर स्वामी दयानन्द उठे और रास्ते में खड़े हो गये। आश्चर्य से जब उस महिला को देख रहे थे, तब उस महिला ने कहा स्वामिन् क्या देख रहे हो? यदि मैं इस साड़ी के टुकड़े को वापिस

जाकर अपनी फटी साड़ी में न सिऊंगी तब तक अपनी इज्जत को सुरक्षित भी न रख पाऊंगी। महिला तो यह कर चली गई, परन्तु वह वीतरागी सन्यासी जो घर छोड़ने पर कभी वापिस नहीं गया था, द्रवित हो गया और पता नहीं कितने समय तक गंगा की जलधारा में अपनी आंसुओं की धारा बहाता रहा। दयानन्द देश की निर्धन अवस्था पर रोता रहा। यह वही दयानन्द है जिसने अवैदिक मतों के खण्डन में कहीं पर भी समझौता नहीं किया था, जिसने अपनी खण्डन की लेखनी से किसी को भी माफ नहीं किया था।

वास्तव में स्वामी दयानन्द का जीवन भवभूति के उस कथन चरितार्थ करता है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादापि ।
लोकोत्तराणां चेतासि को विज्ञातुमर्हति ॥

अर्थात् जिनका जीवन वज्र से भी कठोर है और कोमल से कोमल पुष्पों से भी कोमल है ऐसे लोकेत्तर अर्थात् महान् आत्माओं के चरित्र को कौन जान सकता है इसलिए स्वामी जी ने अपने शिष्यों को विज्ञान और हस्तकला आदि की शिक्षा हेतु विदेशों में भेजा। इस सम्बन्ध में अनेकों पत्र आज भी मार्गदर्शन का काम कर रहे हैं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविश्रालय ने महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के आश्रम में आर्य जनता को भेंट रूप में यह महर्षि दयानन्द की 'साबना और सिद्धान्त' नाम का यह ग्रन्थ उस महर्षि, महामना, तपस्वी, योगीराज, 'समत्वं योग उच्चते' के अनुभवी मनस्वी, जो दया का आगार था, जिसने वेदों की नूतन शैली से जगत् को को चमत्कृति किया जिसने नारीजाति का उद्धार किया, जो गोपालक बना, जिसने इदभमम कह कर अपना उत्सर्ग और उस प्यारे प्रभु को ही अपना सब कुछ समर्पित कर दिया था उसके पवित्र चरणों में एक तुच्छ श्रद्धा सुमन रूप में समर्पित है।

विदुषां वंशवद

जयदेव वेदालंकार

सम्पादकीय

इस धरा धाम पर बाल ब्रह्मचारी युगपुरुष क्रान्तद्रष्टा भगवान् दयानन्द का प्रादुर्भाव आर्यावर्त की पवित्र ऋषि - भूमि में सम्पूर्ण अविद्या तथा अज्ञान का नाश करके विश्वशान्ति स्थापनार्थ तथा वेदों में मानव जीवन के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त समस्याओं का समाधान है, यह सिद्ध करने के लिये उन्नीसवीं सदी के मध्य में हुआ।

महर्षि दयानन्द का सम्पूर्ण जीवन संघर्षमय एवं कर्मयोगी के रूप में देखा जा सकता है । उन्होंने संसार के दो मुख्य वादों का समन्वय किया है, वे हैं भौतिकवाद एवं आध्यात्मवाद ।

संसार में अशान्ति के दो ही मौलिक हेतु हो सकते हैं। प्रथम भोग सामग्री की वितरण व्यवस्था और भोक्ता का भोग के साथ सम्बन्ध। प्रथम स्थिति का समाधान समाज क्रान्ति करे और राजनैतिक रक्त विप्लव किया जाये। द्वितीय के लिये स्थान, समय तथा परिस्थिति के आधार पर विशेष द्वारा उपस्थित विचार तथा विधि कार्य करते हैं। पहले से विस्तार स्वरूप राजतन्त्र से लेकर लोकतन्त्र की व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ और दूसरे के विस्तार स्वरूप मत ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय के रूप में पारसी ईसाई मुसलमान बौद्ध जैन इत्यादि आचार पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ। इन दोनों पाटों के बीच विश्व की शान्ति पीसती रही और आज पराकाष्ठा तक पहुंच चुकी है। विश्व में अशान्ति के मूल कारणों में दो प्रमुख हैं राजनीतिक मान्यताओं की रस्साकसी और मत मतान्तरों की संख्या-वृद्धि में होड़ की प्रवृत्ति। विश्व के इतिहास में जारशाही और उसका दुःखद अन्त एक ओर है तो ईसाई मत की ही दो शाखाओं कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट के मध्य की रक्तरंजित विभत्स गाथा दूसरी ओर है।

महर्षि दयानन्द ने इस व्यापक अविद्या, अज्ञान तथा सत्य का भेदन करते हुए वेदों का सिंहनाद किया। "मेरा अपना मन्तव्य वही है जो सब तीनकाल में एक सा मानने योग्य है। मेरी कोई नवीन कल्पना नहीं है। अपितु जो सत्य है उसे मानना और मनवाना तथा जो असत्य है उसे छोड़ना और छुड़वाना अपना अभीष्ट है। इसी सत्य के प्रकाश सन्दर्भ में उन्होंने विश्व के समस्त नागरिकों के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक घोष दिया "अपने देश में अपना राज्य" इस प्रकार संसार के समस्त पराधीन राष्ट्रों की एक नूतन चेतना तथा स्फूर्ति इस दिशा में प्राप्त हुई और अपने देश के साथ ही अन्य पराधीन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की भूमिका कासमारम्भ हुआ।

जब बम्बई में लाट साहब ने पूछा कि पण्डित दयानन्द अंग्रेजों के राज्य में आपको अपने धर्म प्रचार कार्य में कोई बाधा तो नहीं नहीं पहुंचाता है ? तब स्वामी दयानन्द ने कहा था कि मुझे आपके राज्य में कोई भय नहीं है, आपका राज्य प्रबन्ध अच्छा है। इसके तुरन्त बाद अंग्रेज कमीश्नर कहा तब तो हमारे राज्य के स्थायीत्व के लिए आप प्रतिदिन भगवान् से प्रार्थना करे कि वह स्थायी रहे। महर्षि दयानन्द का चेहरा लाल हो गया और उन्होंने तुरन्त जोर से कहा मैं तो इसे समाप्त करने की ईश्वर से प्रतिदिन प्रार्थना करता हूं। मेरा दृढ़मत है कि "विदेशी राजा से स्वदेशी राज्य सर्वदा और सर्वथा उत्तम होता है।" महर्षि की इस उद्घोषणा को सुनकर अंग्रेज अफसर अवाक् रह गया।

महर्षि दयानन्द का दर्शन यथार्थवादी दर्शन है। वह कल्पना और आदर्श पर आधारित नहीं है अपितु वह यथार्थ के धरातल को छू रहा है। इसलिए उनके सभी विचार एक क्रांति का पैगाम देते रहे हैं।

महर्षि दयानन्द की सर्वाङ्गीन विकास की दृष्टि को रखकर ही "महर्षि दयानन्द की साधना और सिद्धान्त" नामक यह ग्रन्थ जो कि बहुत विशालकाय न होकर स्वरूप गागर में सागर समाये हुये है, उपर्युक्त दृष्टि कोण को रख कर ही लिखा गया है।

इसमें यायावर ऋषि दयानन्द, की तत्त्वमीमांसा, वेदार्थशैली भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, वैदिक नारी, शिक्षा दर्शन वैदिक-साहित्य में गौ–रक्षा, शिक्षा के मूल तत्त्व ऋषि दयानन्द का राज-दर्शन और ब्रह्ममीमांसा आदि गम्भीर विषयों पर विद्वान् लेखकों ने लिखा है। मैं उन सबका आभारी हूं।

मान्य कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा जी, जो हमेशा सबके प्रेरणास्रोत रहेहैं। यह उनकी प्रेरणा का ही फल है। निर्वाण शताब्दी के अवसर पर आर्यजन जनता के समक्ष हम यह ग्रन्थ गुरुकुल-पत्रिका के विशेषांक रूप में प्रस्तुत कर पाये हैं।

अन्त में डा. जयदेव वेदालंकार अध्यक्ष दर्शन विभाग का धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता कि केवल एक मास पूर्व ही उन्होंने इस तप-साध्य कठिन कार्य को सम्भाला और इस सुन्दर पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर दिखाया। मैं हृदय से उनका आभारी हूं।

विनीत

रामप्रसाद वेदालंकार

□□

विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह एवं अन्य कार्यक्रमों की झलकियां
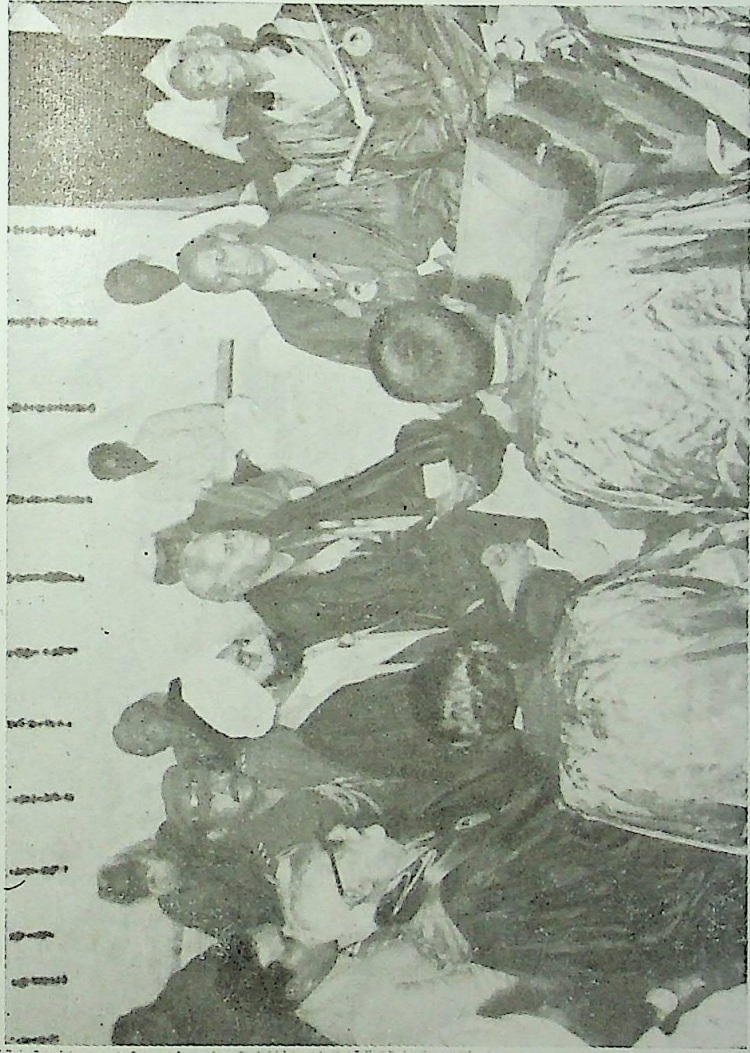
विश्वविद्यालय के दीक्षान्त यज्ञ का दृश्य। नवस्नातक एवं अधिकारीगण यज्ञ कर रहे हैं।
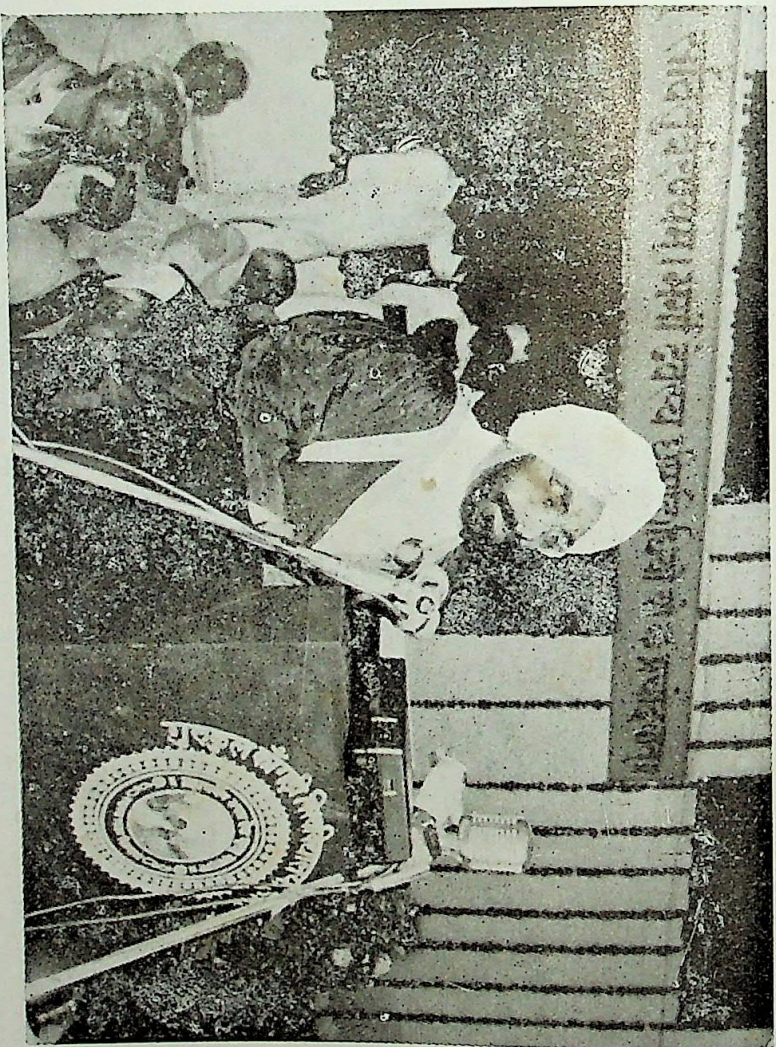
महामहिम राष्ट्रपति श्री ज्ञानी जैलसिंह गुरुकुल विश्वविद्यालय के १९८२ – ८३वें दीक्षान्त समारोह के शुभ अवसर पर अपना दीक्षान्त भाषण दे रहे हैं।
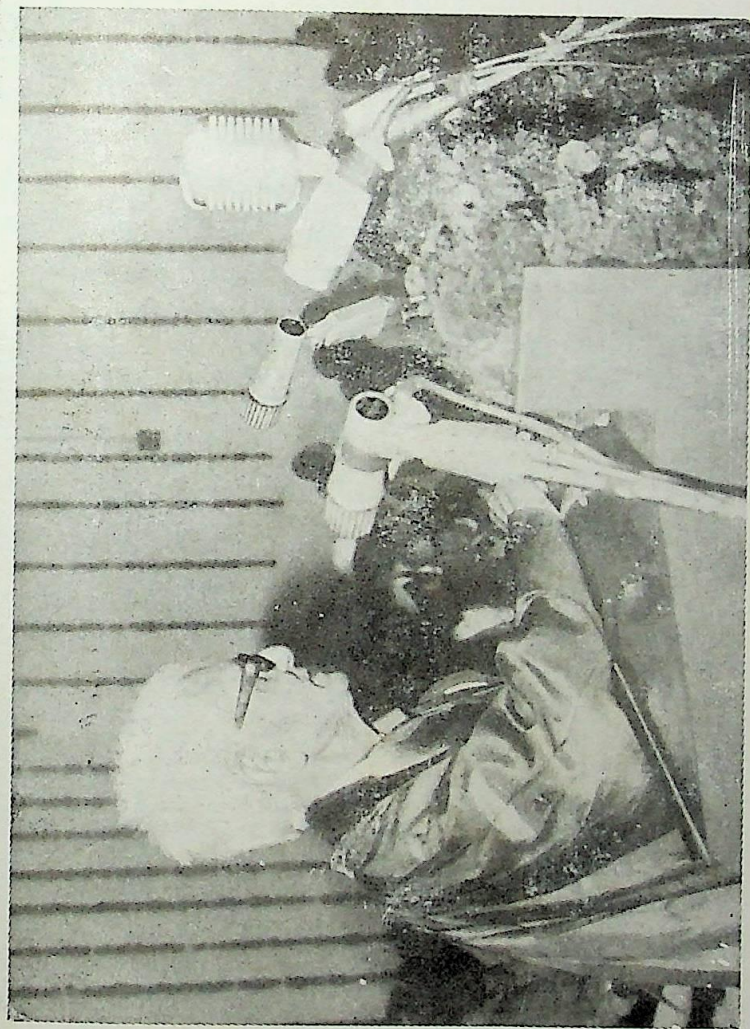
डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार विजिटर विश्वविद्यालय नव स्नातकों को आशीर्वाद प्रदान कर रहे हैं।
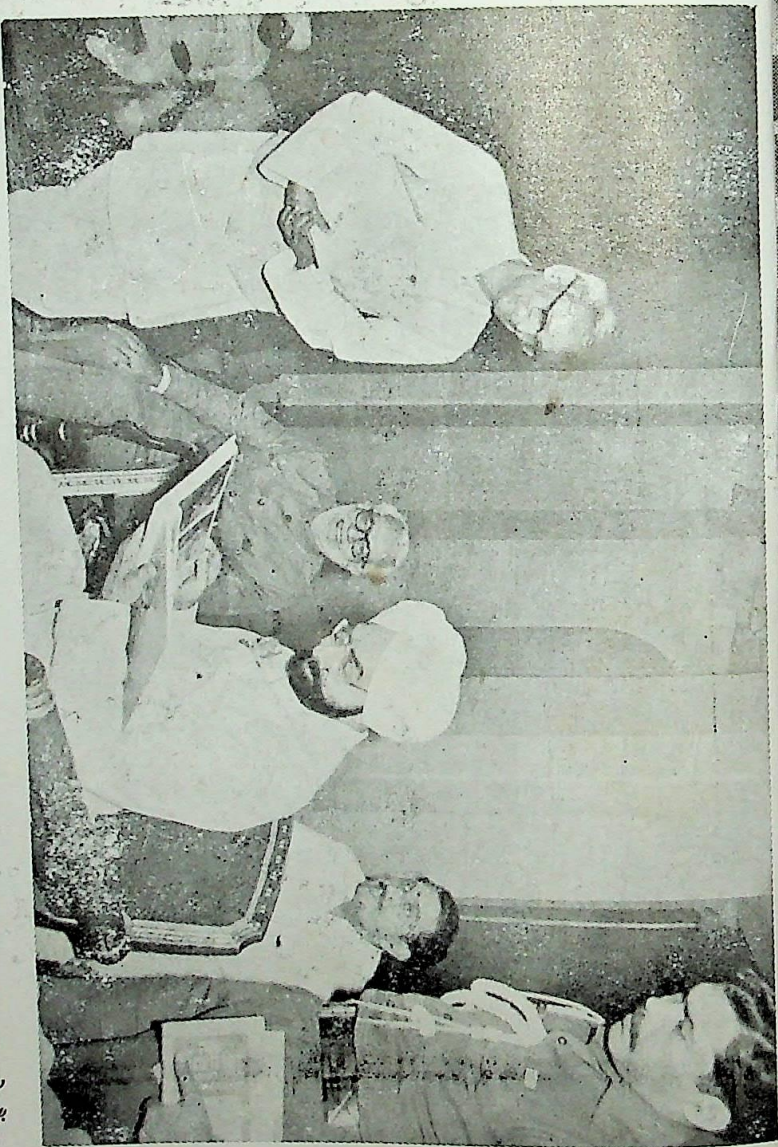
डॉ० जबरसिंह सैंगर मान्य राष्ट्रपति जी को दीक्षान्त समारोह का फोटो एलबम प्रस्तुत कर रहे हैं। मान्य कुलपति महोदय भी विराजमान हैं।
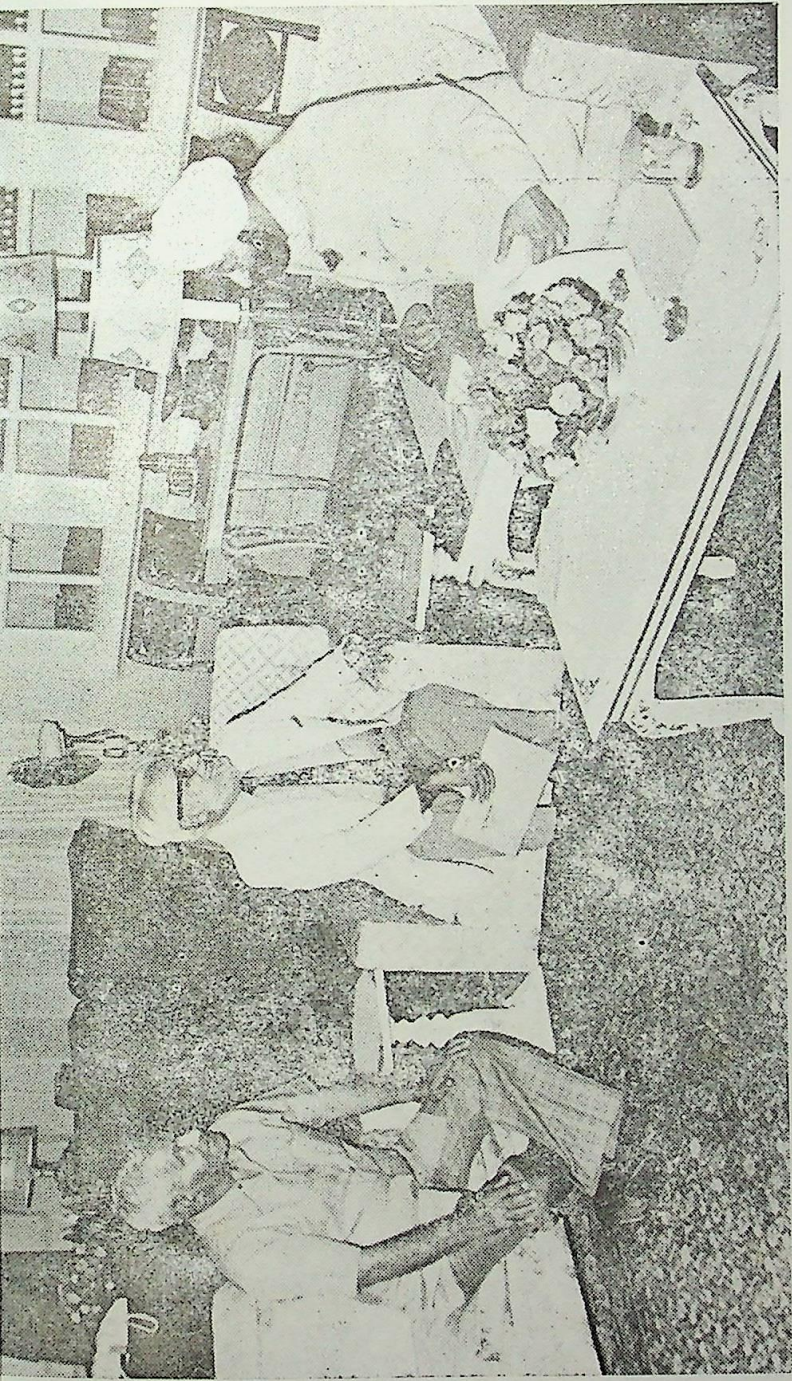
मान्य कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा राष्ट्रपति महोदय से विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में मुख अतिथि के रूप में सम्मिलित होने हेतु निवेदन कर रहे हैं इसके साथ ही वैदिक शिक्षा कार्यशाला हेतु शुभाशीर्वाद भी प्राप्त कर रहे हैं। इस अवसर पर श्री सरदारीलाल वर्मा प्रधान आर्यप्रतिनिधि
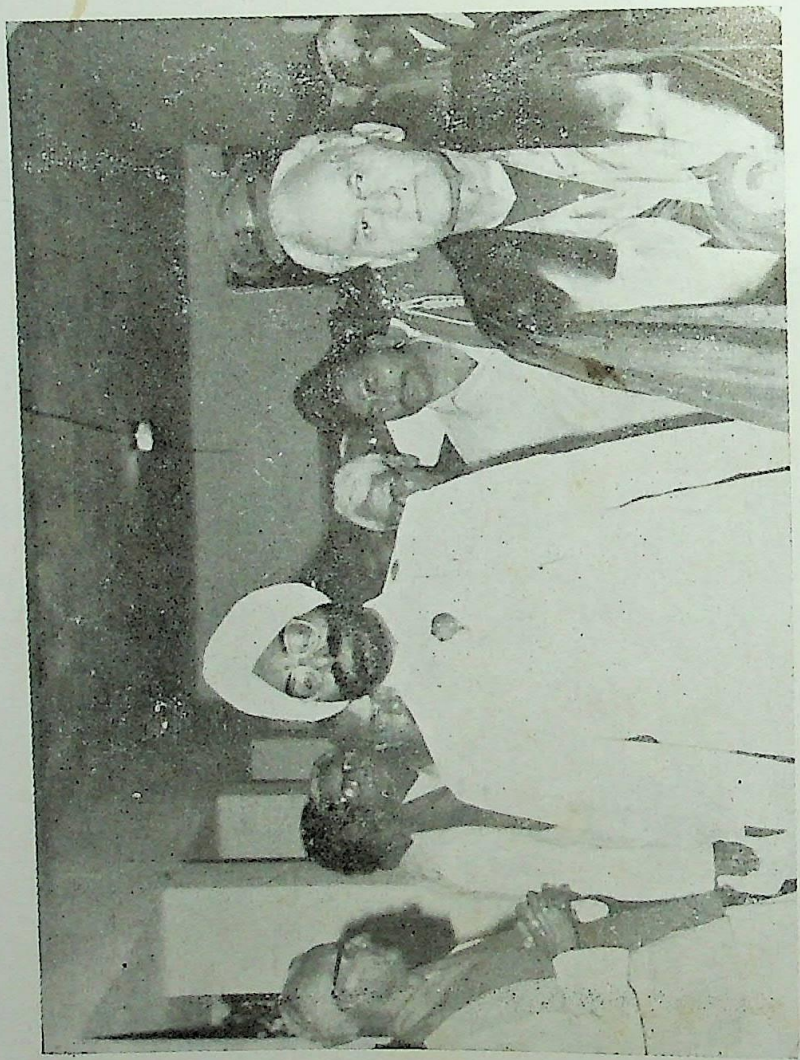
महामहिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह तथा विश्वविद्यालय के कुलाधिपति
श्री वीरेन्द्र दीक्षान्त समारोह के उद्घाटन के लिये जा रहे हैं।

कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा महामहिम राष्ट्रपति जी, श्री बृजमोहन थापर वित्ताधिकारी तथा श्रीमती सुषमा स्नातिका जलपान पर बात करते हुये ।
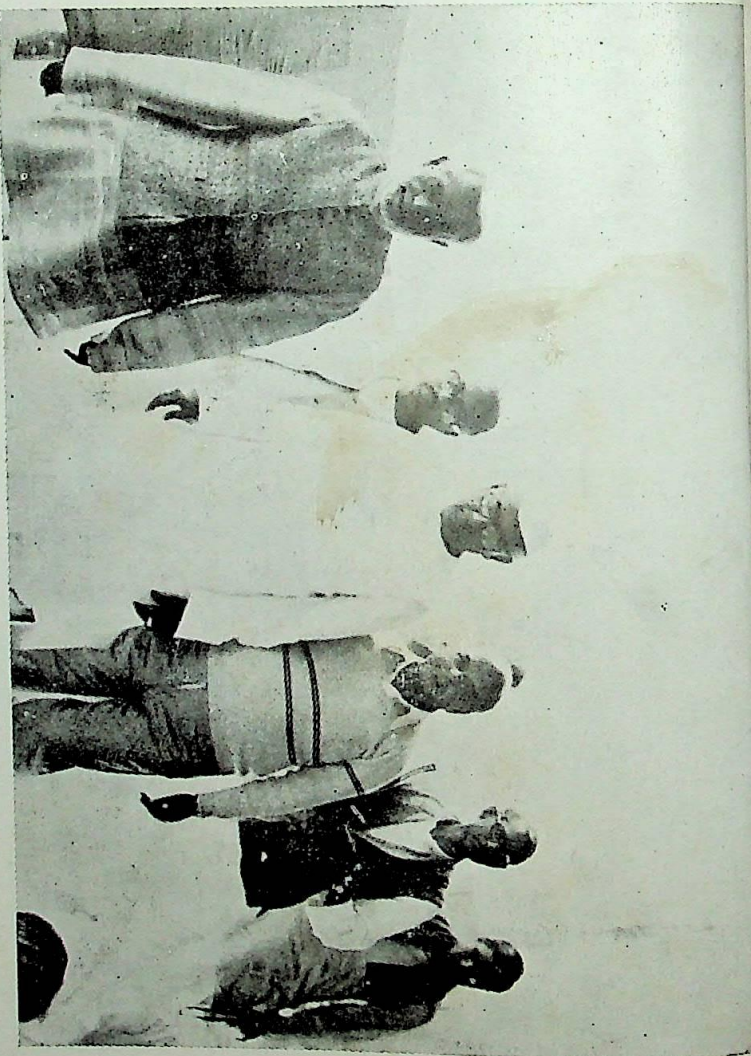
श्री कुलपति महोदय, डॉ० राकेश, डॉ० वासुदेवसिंह मन्त्री उत्तर प्रदेश, वित्ताधिकारी बृजमोहन थापर, कुलसचिव डॉ० जबरसिंह तथा डॉ० जयदेव वेदालंकार दर्शन विभाग यज्ञशाला की ओर जाते हुए।

कुलाधिपति श्री वीरेन्द्र जी वैदिक विद्वान् श्री विश्वनाथ विद्यालंकार को मानपत्र एवं सहस्त्र रूपये संघड़ विद्यासभा की ओर से गोवधंन शास्त्री पुरस्कार भेंट करते हुए।
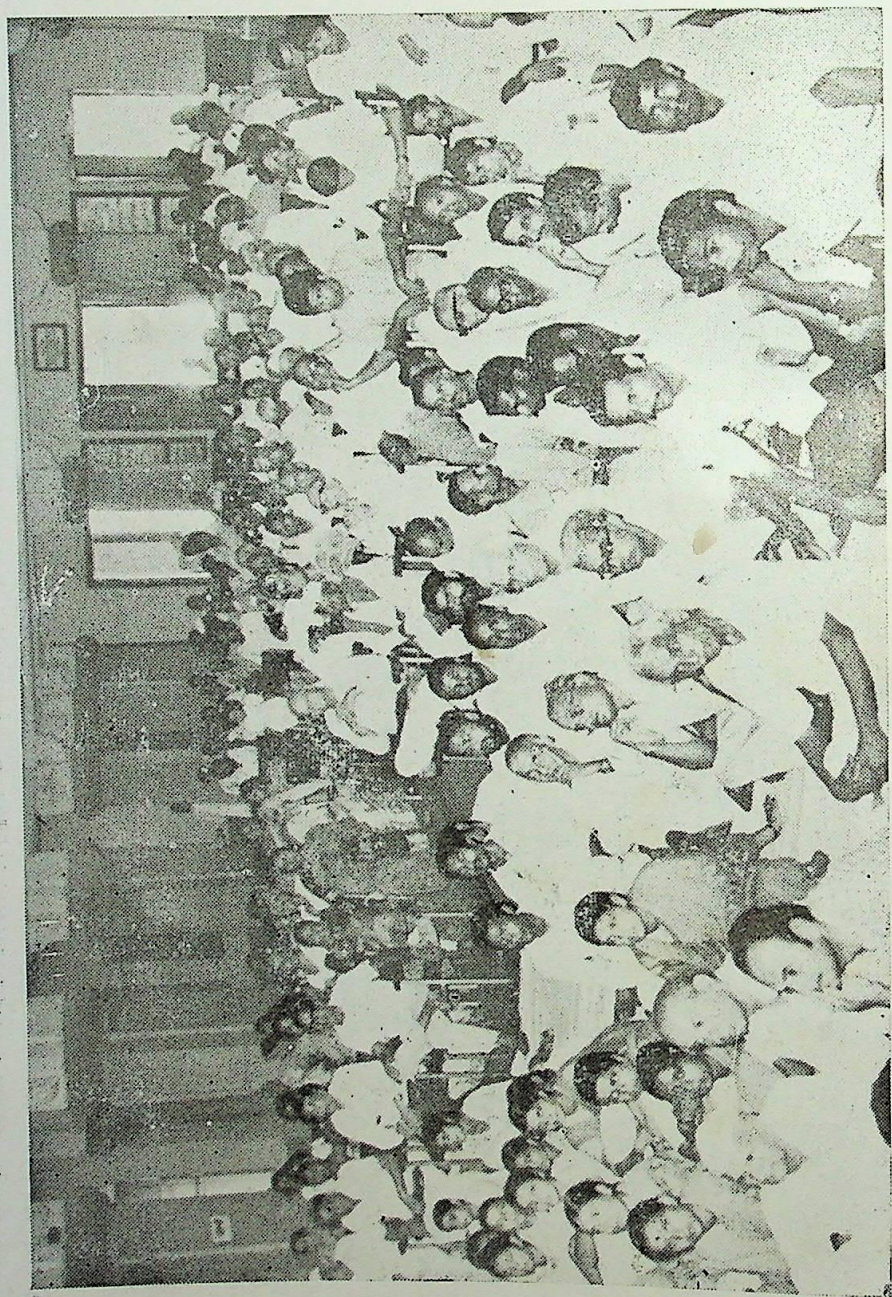
वैदिक कार्यशाला में सम्मिलित हुये विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों का एक दृश्य।
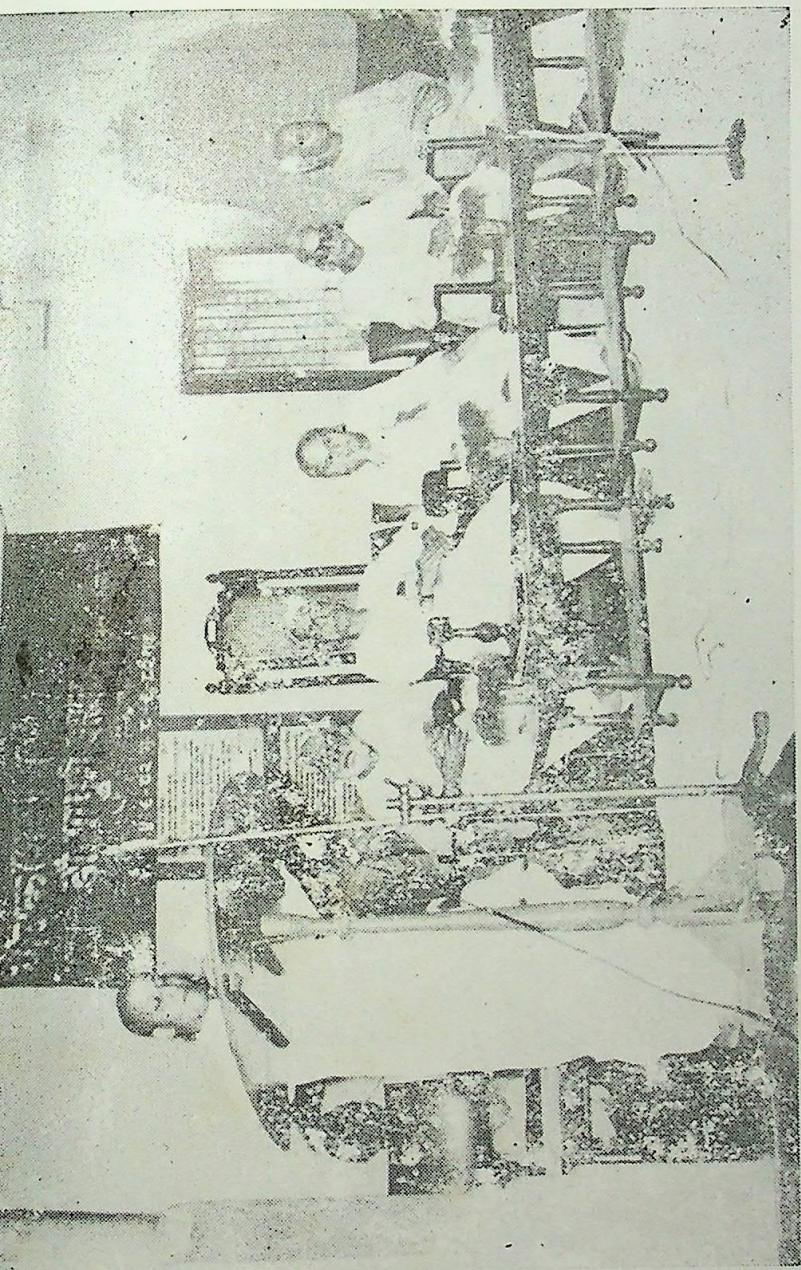
आचार्य एवं प्रोवाइसचान्सलर प्रो० राम प्रसाद वेदालंकार वैदिक शिक्षा कार्यशाला के उद्घाटन समारोह में भाषण दे रहे हैं। मान्य कुलपति महोदय, डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, श्री कुलाधिपति जी तथा आचार्य श्रीराम शर्मा भी विराजमान हैं।
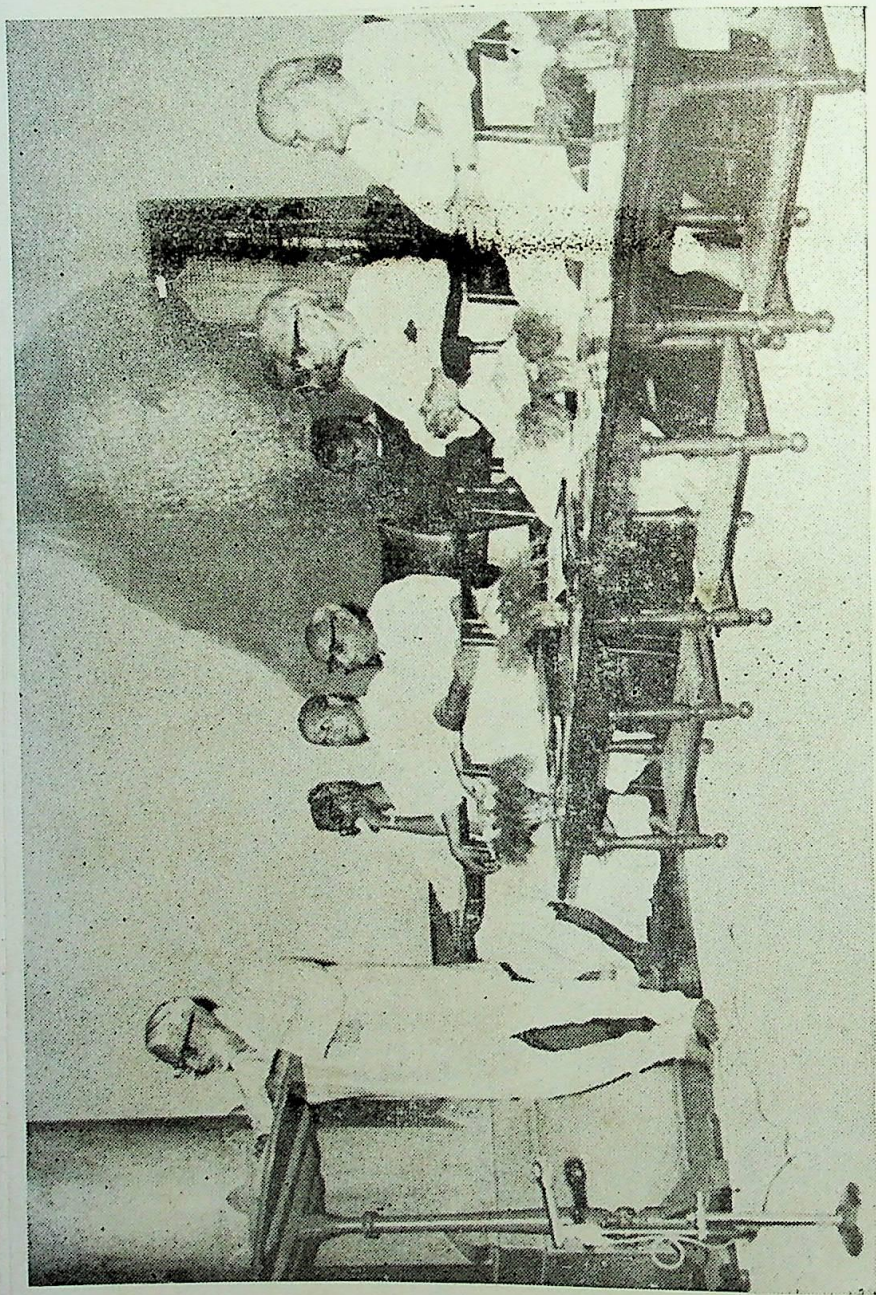
मान्य कुलपति महोदय वैदिक कार्यशाला के उद्‌घाटन समारोह में भाषण देते हुये ।

उपोद्घात

नव भारत के निर्माण में ऋषिदयानन्द का योगदान—

नव भारत के स्वप्नद्रष्टा के रूप में ऋषि दयानन्द ने एक शताब्दी पूर्व ही एक ऐसे भव्य भारत का चित्र उपस्थित किया जो लोकतान्त्रिक होने के साथ-साथ समाज में फैली विभिन्न कुरीतियों से रहित था। उन्होंने युग की धारा को बदलने का प्रयत्न किया।

जातिगत-व्यवस्था पर प्रहार—

उन्होंने सडी गली सामाजिक मान्यताओं के खिलाफ ऐसे समय में आवाज उठाई जबकि उस समय असम का विद्वत् समुदाय भी विकृत मान्यताओं का समर्थन करता था। जाति-वर्ण व्यवस्था ने भारत में ऐसी फूट का बीजारोपण किया जिससे भारतवासी एक दूसरे को विद्वेष की दृष्टि से देखते थे। मानव मूल्यों की कसौटी गत जन्मजाति व्यवस्था की सरहद से हटकर विशुद्ध मानवीय स्तर पर ऋषि दयानन्द की वैचारिक क्रान्ति से उभरकर सामने आई।

अछूतोद्धार—

भारतीय समाज में अछूतों के साथ किये जाने वाले दुर्व्यहार से ताडित होकर अछूत और शूद्र धर्मयुक्त होने लगे थे। यह वह समय था जब धर्म के मामले में बुद्धिजीवी भी तर्क एवं औचित्य से अलग हटकर आचरण करते थे। सामाजिक व्यवस्था के इस संकीर्ण दायरे से क्षुब्ध होकर ऋषि दयानन्द ने मर्मान्तिक होकर एक स्थल पर कहा "यह व्यवहार तो आर्यों के लिये मरण व्यवस्था बन गई है देखें इस डाकिन से इनका पीछा कब छूटता है।"

जाति पाति के इस व्याघात को हटाने हेतु अन्तर्जातीय विवाह का चौंका देने वाला आदर्श ऋषि दयानन्द ने पराधीन भारत में रूढ़िगत भारतीय समाज के सामने उपस्थित किया। आर्यसमाज ने इस ओर क्रियात्मक कदम उठाया लेकिन अभी अपेक्षाकृत परिणाम के लिय और अधिक कर्मठता से कार्य करने की आवश्यकता है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा अब अपने विविध क्रिया कलापों के अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह का पृथक् संभाग खोलकर जाति के जन्म भेद को हटाने में जनमत जागृत कर रही है।

शुद्धि आन्दोलन—

ऋषि दयानन्द के पश्चात् अछूतों की समस्याँ को स्वामी श्रद्धानन्द ने पूरे ओर शेर से उठाया स्वामी श्रद्धानन्द के शुद्धि आन्दोलन ने भारतीयों में एक नवीन प्रेरणा का संचार किया। यह ऋषि दयानन्द की विचारधारा का जादू था जो वाद में अछूतोद्धार के आन्दोलन के रूप में भारत के विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक संगठनों द्वारा अपनाया गया।

स्त्री शिक्षा—

स्त्री और शूद्रों को सर्वप्रथम शिक्षित किये जाने का अभियान ऋषि दयानन्द ने चलाया। आर्यसमाज ने कन्याओं को शिक्षा देने में स्वर्णिम भूमिका का निर्वाह किया। आर्यसमाज के कन्याओं को शिक्षित करने के जन आन्दोलन से पूर्व शंकराचार्य ने जहां कन्याओं को पाठशाला में भेजने का तीव्र विरोध किया था वहां इस व्यवस्था का पृष्ठ पोषण भी किया था कि यदि शूद्र के कान में वेद का मन्त्र पड़ जाये तो उसके कान में पिघला हुआ सीसा भर देना चाहिये।

आर्यसमाज से पहले कन्याओं का विवाह १२ वर्ष से पूर्व कर दिया जाता था लेकिन आर्यसमाज के जागरण ने यह जनमत जागृत किया कि कन्याओं का विवाह बड़ी आयु में किया जाये।

बहुत्व में एकत्व—

आर्यसमाज ने विविधताओं से पूर्ण इस देश में एक राष्ट्र, एक समाज, एक भाषा, एक धर्म तथा एक ईश्वर का ऐसा विगुल बजाया, जिससे भारतीय समाज में एकत्व एवं स्वाभिमान का नव संचार हो उठा। एक ईश्वर को मानने वाले आर्यसमाज की इस एकत्व सार्व-भौमिक विचारधारा ने भारतीय समाज को ऐसी चुनौती प्रदान की जिससे लड़खड़ाते अंध विश्वासों के टीले धराशायी होने लगे। आर्य समाज मन्दिर के द्वार बिना जातिगत भेदभाव के मानव मात्र के लिये खुले हैं। आर्यसमाज के द्वारा संस्थापित हजारों शिक्षणालय बिना भेदभाव के सभी के लिये खुले हैं। आर्यसमाज एक ऐसा संगठन है जिसने सर्वप्रथम रचनात्मक रूप से शूद्र कही जाने वाले बढई, नाई, लुहार, चमार आदि जाति के लोगों को भी शिक्षित करके विद्वान पुरोहित के रूप में नियुक्त किया। यज्ञ की वेदी पर ब्रह्मा बने इन विद्वानों का वर्ण जातिगत न होकर कर्मगत बना।

जवाहरलाल नेहरू का यह कथन अत्यधिक समीचीन है "आर्य समाज ने लडकों और लडकियों की शिक्षा, स्त्रियों की दशा के सुधार और दलितों को ऊंचा उठाने की दिशा में बडा अच्छा कार्य किया।"

जीवन के आध्यात्मिक सत्य का शाश्वत बोध कराने वाले ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के द्वारा सही रूप में जीवन के प्रति जिस दृष्टिकोण का विमोचन किया वह समग्र जीवन-क्रान्ति से

सम्बन्धित था। आर्यसमाज के कार्य की प्रशंसा करते हुए सर हर्बर्ट
रिट्ले महोदय ने कहा था "आर्य समाज शिक्षित हिन्दुओं के सामने
सुनिश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसका मूल स्रोत वेद और आर्य
परम्परा है। आर्यसमाज सामाजिक और शैक्षणिक उन्नति की ऐसी
योजनायें प्रस्तुत करता है, जिसके बिना वास्तविक उन्नति सम्भव
नहीं है।"

नवभारत के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द—

नये भारत का निर्माण आर्यसमाज की स्थापना के
साथ ही प्रारम्भ होता है। ऋषि दयानन्द की व्यक्ति,
समाज एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी मान्यताओं
ने नवीन भारत के निर्माण का बीजांकुर किया। ऋषि दयानन्द ने
सर्वप्रथम आर्य समाज की रचना एवं उसके लोकतान्त्रिक संविधान के
आधार पर जनमानस के सामने प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का
उद्घाटन किया।

ऋषि दयानन्द ने ही सर्वप्रथम गुलाम भारत में वैदिक
लोकतन्त्र की उद्घोषणा वेद मन्त्रों में उल्लिखित सभा एवं समिति
के शब्दों से प्रकाशित की। आधुनिक भारत के स्वप्न द्रष्टा ऋषि
दयानन्द ने राष्ट्र की धारा का कोई ऐसा प्रसंग अछूता नहीं रखा
जिस पर उन्होंने अपने स्पष्ट विचारों को अंकित न
किया हो। वेद की महत्ता को पुर्नस्थापना कर जन-जन में वेद के
आलोक को विस्तीर्ण करने का महान कार्य का शुभारम्भ उन्होंने
अपने समय में किया। आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे
विश्वविद्यालयों में दयानन्द पीठों की स्थापना हो जहां ज्ञान विज्ञान
के नूतन क्षेत्रों में वेदों को हाथ में होकर गवेषणा का कार्य हो।

वेदों में अनुसंधान का कार्य विपुल रूप से भारतीय विश्व-विद्यालयों में होना चाहिये यह हमारी धरोहर है।

आर्यसमाज और शिक्षा—

शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज की भूमिका राज्य सरकारों से भी अधिक रही है। ऋषि दयानन्द ने जो शिक्षा विधेयक चिन्तन प्रस्तुत किया वह नवभारत की शिक्षा नीति का मूलाधार बन सकता है।

डी० ए० वी० कॉलेज आन्दोलन तथा गुरुकुल आन्दोलन इन दोनों आन्दोलनों ने शिक्षा विषयक पूर्व और पाश्चात्य, शास्त्रीय और वैज्ञानिक दोनों परिवेश का समन्वय का प्रयास किया है। आर्यसमाज का करोड़ों रुपया इन स्व संचालित शिक्षा संस्थानों पर व्यय होता है। उसकी विपुल शक्ति एवं श्रम गुरुकुलों एवं कॉलेजों के संचालन में लगता है। समय की यह मांग है कि प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा के अनुरूप विद्यालयों में जहां छात्रों का सर्वाङ्गीण विकास अभीष्ट हो वहां नवीन ज्ञान-विज्ञात एवं तकनीकी शिक्षण के महत्व को भी स्वीकार किया जाना चाहिये। इसके साथ ही स्वावलम्बन, स्वदेशी, यम-नियम, तपस्या, ब्रह्मचर्य को भी यथेष्ठ महत्व देना चाहिये तभी राष्ट्रोत्थान होगा।

नये भारत की कैसी शिक्षा पद्धति हो तथा शिक्षा का उद्देश्य कैसा हो इसका समाधान आज एक शताब्दी पूर्व ही ऋषि दयानन्द ने भारतीयों के सामने उपस्थित कर दिया था। ऋषि दयानन्द के शिक्षा विषयक इन विचारों पर सितम्बर १९८२ में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय स्तर पर एक कार्यशाला का आयोजन भी किया गया था। इस कार्यशाला की सर्वमान्य प्रथम संस्तुति यही

थी–"समग्र शिक्षा के उद्देश्य की सफलता 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषों वेद' के सन्देश को आमुख रखते हुए, माता, पिता एवं आचार्य के सम्मिलित प्रयत्न से ही सम्भव है। अतः प्रत्येक गृहस्थ बालक की प्राथमिक निर्माणशाला है। इस हेतु 'माता निर्माता भवति' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। नारी शिक्षा पर सर्वप्रथम बल दिया जाना चाहिए।"

कार्यशाला ने ऋषि दयानन्द के विचारों के आधार पर अपनी द्वितीय संस्तुति में पूर्ण वल देकर भारत सरकार से आग्रह किया कि नये भारत की शिक्षा नीति में आचार्य शिष्य का सम्बन्ध गर्भस्थ शिशु की तरह अंतरंग होना चाहिए। प्रत्येक अध्यापक छात्रों के एक छोटे समुदाय के सर्वतोमुखी विकास के उत्तरदायी होने चाहिएं।

निर्वाण शताब्दी के अवसर पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की ओर से 'महर्षि दयानन्द की साधना और सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

बलभद्र कुमार हूजा
कुलपति

□ □ □

यायावर दयानन्द

काठक संहिता की एक अर्द्ध ऋचा है-

यायावरः क्षेमस्येषे

सतत चलने वाला योगक्षेम को प्राप्त होता है। नीति विषयक अन्य ग्रन्थ भी यह आह्वान करते हैं कि चलते रहो, स्थिर न रहो। स्थिर जल सड़ जाता है और प्रवाहमान जलधारा न केवल शुद्ध हो, जाती है बल्कि शक्ति का उद्रेक बनती है। तभी तो उससे विद्युत उत्पन्न की जा सकती है।

ऐतरेय ब्राह्मण [७.३.३३] में घर लौटते हुए रोहित को मार्ग में रोककर इन्द्र सम्बोधन करते हुए कहता है कि चलते रहो क्योंकि श्रमवन्त को ही श्री मिलती है।

आस्तेभगं आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठशेते।
निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥

चरैवैति

बैठे हुये का भाग्य बैठ जाता है और जो उठ खड़ा होता है वह ऊर्ध्वोन्मुख होता है। जो विचारता रहता है उसका भाग्य विशाल होता जाता है। अतः सतत चलता रहे सूर्य सदैव चलता दीखता है वास्तव में तो पृथ्वी पर हम चलते रहते है। अतः ऋचा में जो कहा है।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविव चलते रहने से ही है।

दयानन्द सरस्वती के जीवन में यह आह्वान प्रस्फुरित होता दीखता है। एक बार बचपन में ही जीवन का पाथेय जब निश्चित

कर लिया तो फिर सतत चलते ही रहे। घर से निकलने से लेकर स्वर्गारोहण तक का सारा जीवन आसेतु-हिमाचल इस देश में चलते रहने का उपक्रम है। अनुमान है कि कोई एक लाख मील की यात्रा की होगी और यात्रा के फलस्वरूप सतत चलने वाले एक सात्विक समाज की वे स्थापना भी कर गये।

जन्म—भारत के गुजरात प्रान्त में मौरवी राज्य के टंकारा नाम के छोटे से गांव में। करषनजी लालजी त्रिवेदी नामक सद्गृहस्थ के घर में इनका जन्म १२ फरवरी सन् १८२५ ई० (सम्वत् १८८१) में हुआ।

बाईस वर्ष की आयु में विवाह की तैयारियां शुरू हुई तो मूल शंकर एक दिन शाम को पूर्ण वैराग्यवान होकर और फिर लौटकर घर न आने का संकल्प कर स्नेह, स्मृति, वात्सल्य सभी कुछ त्याग कर अमर जीवन की तलाश में १८४७ में घर से निकल गये। सिद्धपुर स्थित बाघेरों के शिव मन्दिर में एक ब्रह्मचारी ने उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की प्रेरणा दी।

पवित्र नर्मदा के स्रोत अमर कन्टक पर्वत पर स्वामी शंकराचार्य ने भी संन्यास लिया था। १८४९ में वही शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी ने भी विधिवत संन्यास लेने का संकल्प किया। संन्यासाश्रम में दीक्षित करने वाले दाक्षिणात्य साधु पूर्णानन्द ने ही उन्हें दयानन्द सरस्वती नाम नर्मदा स्थित प्रसिद्ध तीर्थ चार्णादिक कर्णाली में दिया था।

(१) प्रथम देशाटन—आबू से हरिद्वार तक (१८४९–५५) कर्णाली से व्यासाश्रम एवं छिन्नाड़ा होते हुए वे अहमदाबाद लौटे और फिर आबू पर्वत पर उस स्थान पर रहे जो वाघेरादि क्षत्रियों का उद्गम स्थान है। वहाँ पूर्व में विशाल शुद्धि यज्ञ होकर मिश्रादि देशीय जातियों को चौहानादि क्षत्रिय की संज्ञा दी गई थी। आबू से

पुष्कर, अजमेर, मारवाड़, जयपुर, दिल्ली, मेरठ होते हुए वे हरिद्वार के कुम्भ के मेले में शामिल होने १८५५ में पहुँचे थे। यह वह समय था जब सारा उत्तरी भारत खून से खौल रहा था। डलहौजी ने पंजाब पर कब्जा कर लिया था। विजित रियासतों में से जो पुत्रहीन थीं, उन्हें अपने राज्य में मिला लिया था। उसने गोद लेने के अधिकार को नहीं माना था। जगह-जगह मिशन स्थापित करके लोगों को ईसाई बनाने का अभियान प्रारम्भ कर दिया था। फौज में एक ऐसा कारतूस दिया गया था जिसमें गाय और सुअर की चर्बी लगी हुई थी, और जिसे चलाने के लिए दाँत से काटना पड़ता था। स्वनिर्मित जीवन चरित्र में (जो पं० दीनबन्धु उपाध्याय ने कलकत्ता में महर्षि के समवर्ती बंगाल महाशयों के घरों से सामग्री इकट्ठी करके संकलित किया और जिसे अब स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने १९७२ ई० में नारायण आश्रम नैनीताल से प्रकाशित किया है।) पृष्ठ १८० के बाद जो वर्णन दिये हैं, उनसे तत्कालीन स्थिति का बोध होता है। दयानन्द सरस्वती का यह नवीनतम प्रकाशित आत्म चरित्र है। उसी से उद्धरण देते हैं :—

अजमेर के अनुभव–रास्ते में मन्दिरों में, बाजारों में, दुकानों में नहाने के घाटों में और अतिथि–शालाओं में अर्थात् सर्वत्र स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए आन्दोलन और आलोचना व्यापक रूप से चल रही थी।

सभी जगह चर्चा थी कि विदेशी राहु के ग्रास से स्वदेश की रक्षा करनी चाहिए। मारवाड़, अजमेर आने से पहले मारवाड़ में भी अनुभव मिला था कि जनता स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा हेतु किसी शक्तिशाली और धार्मिक राजा को ढूंढ़ रही थी। उपयुक्त नेता और संचालक मिलने से युद्ध करने के लिए भी तैयार थी।

(पृष्ठ १८१) जयपुर से दिल्ली—

मालूम हुआ है कि दिल्ली नगर महासमाधि में निमग्न है। दिल्ली में भी रास्ते में, बाजारों में, दुकानों में। पथचरी यात्रियों में, साधु संन्यासियों में तथा राज कर्मचारियों में, मुख्य रूप से यही चर्चा थी कि अब सहन करना कठिन है। अब तो जीवन को बाजी में रख-भी स्वदेश और स्वधर्म का उद्धार करना ही चाहिए।

यहाँ एक लड़के ने व्यंग्य में कहा कि देखो देश दुःखी है और यह साधु लोग केवल पेट पूजा ही में व्यस्त हैं। देश और धर्म की रक्षा के लिए कुछ नहीं करेंगे। अन्य साधु तो वृद्ध हुए, पर इसने मेरी आँख खोल दी। मुझे वह देवदूत लगा।

पता चलने पर ज्ञात हुआ कि लगभग ३४ वर्ष पूर्व इस लड़के के पितामह योद्धा दयाराम हाथरस के जमींदार थे और हाथरस के किले की रक्षा के समय लार्ड हेस्टिंग्स के अविराम बम्बवर्षण के सम्मुख युद्ध करके वीरगति को प्राप्त हुए थे। (प्रसिद्ध क्रान्तिकारी राजा महेन्द्र प्रताप इन्हीं दयाराम के वंशज हैं—लेखक)

(पृष्ठ १८३) मैं लाल किले के सम्मुख बैठा था। एक साधु आया और कहा कि जाओ हरिद्वार में शुद्ध हो आओ। पर देश को राहु और केतु ने ग्रसा हुआ है। उसकी रक्षा का व्रत लो।

इस साधु से एकान्त में मेरी बहुत समय तक बात हुई थी। आगे ज्ञात हुआ कि वह एक मराठी पंडित साधुवेश में था। यह भी बताया कि कोई एक सौ पंडित इसी क्षेत्र में घूम रहे हैं।

(पृ० १८५)—एक दक्षिणी भारतीय साधु से वैलों विद्रोह का मर्मान्तक वृत्तान्त और उसे दबाने की प्रतिशोधात्मक कार्यवाही मुझे ज्ञात हुई।

(पृष्ठ१८६) बंगाली साधु द्वारा बोस वर्ष पूर्व घटी बारिकपुर की घटना का वर्णन मिला जहाँ आँग्लौं की गोली से देशी सैनिक भूने गये थे।

(पृ० १८७) आबू से हरिद्वार तक पैदल आने पर मैंने देखा कि सब आवालवृद्ध प्लासी युद्ध की पराजय का बदला लेने को उत्सुक हैं। सभी जगह गुप्त समितियाँ स्थापित हो गई हैं। क्रान्तिकारी लोगों में आपस में सांकेतिक और गुप्त भाषाओं का प्रयोग होता था।

(मूल पृ० १८९ तथा प्रस्तावना पृष्ठ १०९ से ११३)...

हरिद्वार में नील पर्वत पर ठहरा। एक दिन पाँच आगन्तुक मेरी कुटी के सामने आकर खड़े हो गए थे द्वितीय बाजी राव पेशवा के दत्तक-पुत्र धून्धू पन्त (नाना साहब), द्वितीय थे उनके बन्धु अजीमुल्ला खां, तृतीय थे उनके भाई बाला साहब, चतुर्थ थे, तात्या-टोपे और पंचम थे जगदीशपुर के जमींदार कुंवर सिंह। नाना के प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा कि किसी विदेशी राजा को किसी विदेश पर हकूमत चलाने का हक नहीं हैं। भारत असभ्य देश नहीं है। अंग्रेज भारतीय से ज्यादा सुसभ्य नहीं है। इनके राज्य को सहन करना अधिक महापाप है। बाला जी के दूसरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि रजवाड़ों की अनैक्यता और हमारा आत्म-विरोध ही हमारी हुई दुर्दशा का कारण है। तात्याटोपे, अजीमुल्ला, कुंवर सिंह के प्रश्नों का भी उत्तर दिया था। और कहा कि युद्ध १०० वर्ष तक चल सकता है।

(पृ० १९५)में इन लाखों साधुओं को संगठित करुंगा। शेष जनता को तुम संगठित करो। सामरिक जनता में प्रचार के लिए कमल-पुष्प और आसामरिक जनता में प्रचार के लिए चपातियों का व्यव-

हार होता है। पर विद्रोह की कोई तिथि निश्चित कर देना चाहिए। नाना ने मुझे बिठुर आने का निमन्त्रण दिया जो मैंने स्वीकार कर लिया।

(पृ० २००)—चारों मठों के साधुओं ने हमारे संगठन को जगतमिथ्या कहकर टाल दिया। (पृ० २०१)— वैष्णव सम्प्रदाय के के साधुओं ने भी दूसरे ढंग की भाषा का प्रयोग कर मुझको निराश कर दिया। उन्होंने कहा श्री भगवान् के स्थान में देश, समाज, राष्ट्र की सेवा करना महापाप है।

(पृ० २०५)—दो एक रोज के बाद ही झांसी की रानी लक्ष्मी-बाई और उनकी सहचरी रानी गंगाबाई ने तीन कर्मचारियों के साथ आकर प्रमाणिपात किया। रानी ने श्वसुर कुल का राज्य न ने की बात कही और युद्ध के लिये आशीर्वाद मांगा। मैंने कहा स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए जो अपने अस्थाई शरीर को देते हैं, वे कभी नहीं मरते। हम भगवान् से आपके लिए शुभ और कल्याण की कामना करते हैं। उन्होंने एक हजार रुपया मेरे सम्मुख रख कर सम्मान दिखाया।

(पृ० २०६)—नाना साहब और नये अपरिचित सज्जन सात-आठ रोज के बाद फिर हमसे मिलने आये। मैंने राजा गोविन्दनाथ-राय तथा रानी लक्ष्मीबाई के दिये सब रुपए उन्हें दे दिये। उन्होंने स्वातन्त्रय युद्ध के लिए आशीर्वाद मांगा। मैंने आशीर्वाद दिया और उपदेश भी।

(पृ० २०८) साधु लोग आते रहें और मैं स्वदेश रक्षा के लिए उन्हें तैयार करता रहा। साधु लोगों ने कहा कि करीब ढाई सौ साधुओं के नामों की तालिका बनाई है। यह स्वदेश रक्षा के लिए

तैयार हैं। मैंने कहा सैन्यावासों की ओर सब दिशाओं में फैल जाओ। कमलपुष्प और चपाती का फैलना आवश्यक है। मैंने इंगित मात्र में कहा कि उत्तर भारत में मेरठ की तरफ, पूर्व भारत में बारीकपुर की तरफ और दक्षिण में बैलोर की तरफ जाना और दिल्ली के योग-माया मन्दिर के पुरोहित त्रिशूल बाबा से सम्पर्क रखियेगा। वहां से नियमित समाचार मिलेगा और आप लोगों के समाचार हमें वहां से मिलने चाहिए।' हरिद्वार से फिर वे ऋषिकेश तथा टिहरी-गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर गये। वह से यात्रा यों हुई :—

केदारघाट— रुद्रप्रयाग – शिवपुरी, गुप्तकाशी–गौरीकुन्ड, भीमगुफा–त्रियुगी नारायण – गंगनाथ – औखी मठ–बद्रीनारायण–वसुधारा–रामपुर (श्रीनगर के पास) काशीपुर।

थ्योसेफिस्ट पत्र में भी स्वामी जी के यत्र-तत्र वर्णित स्थलों के के आधार पर उनका निम्नस्थानों पर निम्नतिथियों का होना लिखा है
द्रोण सागर काशीपुर—नवम्बर-दिसम्बर १८५३
सम्भल–मुरादाबाद—जनवरी, फरवरी १८५७
गढ़मुक्तेश्वर—मार्च १८५७

"मैं कानपुर में कैन्टोनमैन्ट वाली सड़क से प्रविष्ट हुआ। कानपुर और इलाहाबाद के बीच इन पांच महीनों में रहा।"

मिर्जापुर—मई, जून जुलाई सन् १८५७।
विन्ध्याचल—सितम्बर १८५७
बनारस—अक्टूबर १८५७
चाण्डालगढ़—१० दिन
बनारस—मध्य नबम्र १८५७

तदन्तर नर्मदा प्रान्त की ओर चला गया।

(उक्त इतिहास की भूमिका में पृ० १०२)

अब इन तिथियों का मिलान गदर की तिथियों से करें तो सिद्ध होगा कि जिस नगर में १८५७ का विद्रोह-युद्ध हुआ स्वामी जी वहां उपस्थित थे। गदर के घटना चक्र की तिथियां यों थी :—

२१ मार्च को सार्जेन्ट ह्युमन को मंगल पाण्डे ने गोली मारकर निश्चित तिथि ३१ मई से पहले ही (Premature) युद्ध छेड़ दिया।

१० मई को मेरठ में विद्रोह हुआ, जो गढ़मुक्तेश्वर के पास है।

१ मई को मुरादाबाद में विद्रोह

३१ मई को लखनऊ में विद्रोह

५ जून को कानपुर में विद्रोह का समारम्भ तथा ६ जून को अधिकार।

१५ जून को फतेहपुर में विद्रोह।

२५ जून को अंग्रेजों का समर्पण।

२७ जून को अंग्रेजों का नावों में इलाहबाद को प्रस्थान और मेस्कर घाट पर आक्रमण।

१ जुलाई को बिठूर में नाना का राजतिलकोत्सव

१५ जुलाई को फतेपुर के विद्रोह का शमन।

१५ जुलाई को बीबीघर (कानपुर) में अंग्रेजों का हत्याकाण्ड (मेमोरियल वैल में)

१६ जुलाई को हेवलाक का शिवराजपुर के पास बाघेरों आदि से युद्ध।

३१ जुलाई को बिठूर के महल और मन्दिरों का तोप से उड़ाया जाना।

यह स्पष्ट है कि कानपुर में स्वामी जी ५ जून को विप्लवारम्भ वाले दिन भी थे। २२ जून को कैन्टोन्मेन्ट के उत्तरी पूर्वी भाग में स्थित मेस्कर घाट पर भी थे। १५ जुलाई और ३१ जुलाई को वे बिठूर में थे जब बाघेरा वीरता से लड़ने और महल तोप से उड़ाये गये। यह सजीव चित्रण १८७३ में अपने द्वारा लिखित सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने (अधिक विवरण दिये बिना) यों लिखा है :—

जब सम्वत् १९१४ वि० के पूर्व में तोपों के द्वारा मन्दिर-मूर्तियां अंग्रेजों ने उड़ा दी थी तब मूर्ति कहां गयी थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी विरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागे फ़िरते।

सत्यार्थ-प्रकाश समु० ११)

इससे अधिक १८७३ ई० में लिखा नहीं जा सकता था। इसमें आँखों देखा वर्णन है। पराभव पर मर्मान्त पीड़ा है और भारतीय शौर्य पर महान् गौरव की अनुभूति और विदेशी सत्ता के प्रति आक्रोश।

बाघेर क्षत्रिय बिठूर के आसपास रहते हैं। इनको आबू के यज्ञ पर प्रगट किया गया था। ये गुजरात से निकलकर फैले थे। और रीवा का राजवंश इन्हीं का था।

कानपुर क्षेत्र में विजय लाभ न होते देख नाना साहब तो गंगा पार करके बरेली क्षेत्र में युद्ध संचालन हेतु चले गये और स्वामी जी मिर्जापुर चाण्डालगढ़ और बनारस को। वहां सिख फौज ने विद्रोह दबा दिया था। स्वामी जी नर्मदा के स्रोत अमरकन्टक की ओर चले गये जो बाघेर राजा रीवाँ वाले की सीमा में था। रीवां की सेना ने

भी नवम्बर-दिसम्बर सन् १८५७ में विद्रोह किया पर परास्त हुई। मध्य भारत क्षेत्र में दो वर्ष तक स्वामी जी और तात्या पोपे रहे। अप्रैल १९५९ में तात्या टोपे की शक्ति समाप्त हो गई। आगे पं० दीनबन्धु जी की पुस्तक में पृष्ठ २३६ पर यों वर्णन है—

मैं धनुषकोटि से कन्याकुमारी आया। यहां रामेश्वरम् के भव्य मन्दिर में ठहरा। मन्दिरों में घूम-घूमकर साधु संगठन कार्य का प्रयत्न किया। संगठन न पूरा होने से विफल रहा। जो पचास हजार सैनिक बचे थे वे नेपाल में प्रविष्ट हुए, पर जंग बहादुर सिंह राना ने कड़ी भाषा में आश्रय देने से इन्कार कर दिया। अचानक एक दिन कुछ साधु आये और कहा हम दिल्ली के योगमाया मन्दिर के समाचार लाये हैं। वे मुण्डित और गेरुआवस्त्र धारी थे। उनमें से मैंने एक नाना साहब को पहिचान लिया। मैंने कहा युद्ध, पराजय और नैपाल प्रदेश तक मैंने सब सुन लिया है। पर हताश या निराश होने का कोई कारण नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए युद्ध में जय या पर जब दोनों ही लाभदायक हैं। दूसरे सज्जन तात्या टोपे और तीसरे मेरे साथी दुर्जन राव थे। नाना साहब ने आतमहत्या की कही। मैंने कहा, 'आत्महत्या पाप है।' भारत के पश्चिमी सीमा की तरफ किसी मठ-मन्दिर में रहकर जन-सेवा के लिए जीवनदान कीजिए। मैंने नाना साहब का सन्यास देकर उनका नाम दिव्यानन्द स्वामी दिया। शेष दोनों ने सन्यास लेने का साहस नहीं किया।

आगे भूमिका के पृष्ठ ११४ पर भाष्यकार की एक ओर खोज तथा सूचना है कि नाना साहब मौरवी में अर्थात् स्वामी दयानन्द की जन्मभूमि में नगर सेठ की हवेली में प्रच्छन्न रूप में रहे। और वही उनकी समाधि है। मरने पर राजसी ठाटबाट से क्रिया-कर्म उस अथाह रकम से हुआ था जिसे वह अपनी छड़ी में शिवालय के पुरोहित के पास छोड़ गये थे।

सन् १८५७ के युद्ध की बात वे किसी को भी बता न सके, यदि बता देते तो फाँसी पर लटका दिये जाते। हां अपने बाद के जीवन में उन्होंने श्याम जी कृष्ण वर्मा को जर्मनी बम्ब बनाना सीखने को भेजा था। श्याम जी कृष्ण वर्मा ने लाला हरदयाल और वीर सावर कर को इस हेतु सन्नद्ध किया गया था। दोनों में अस्त्र-शस्त्र भारत में भेजे भी थे। सावरकर ने अपने दादा गुरु की आज्ञानुसार ५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध का इतिहास भी लिखा था, पर वह जब्त कर लिया गया था।

(२) द्वितीय देशाटन : राजस्थान के रजवाड़ों में : १९६० ई० के लगभग जब अंग्रेज शासक विद्रोह का पूर्णतया बदला ले चुके और वे शान्ति स्थापना का ढोंग रचने लगे तो दयानन्द सरस्वती दूसरी योजना बनाकर उत्तरी भारत की युद्ध-स्थली में पुनः प्रगट हुए। सन् ५७ के युद्ध में जाटों और राजपूतों ने कोई विशेष भाग नहीं लिया था। वे जाटों की रियासत मुरसान में पहुँचे। वहां के शासक दयाराम को एक युद्ध में तोप से उड़ा दिया गया था। दयाराम के वंशज एक युवक ने ही उन्हें दिल्ली में भर्त्सना देकर क्रान्तिकारी बनाया था। जिन वंशजो को वहां का राज्य स्वपक्ष में कर के अंग्रेजों ने वहां की गद्दी दी थी, उनसे सम्पर्क किया। बाद में वहां के उत्तराधिकारी राजा महेन्द्र प्रतापसिंह प्रसिद्ध क्रान्तिकारी बने और अंग्रेजों ने उन्हें देश से निर्वाचित कर दिया था।

मुरसान में उन्हें कुछ ऐसा भान हुआ था कि कुछ समय और गुप्त रहना आवश्यक है। अस्तु वे गुरु विजरानन्द की कुटी में मथुरा पहूंचे और वेदाध्ययन की ओर ध्यान दिया। यों गुरु विजरानन्द ने स्वयं इस क्षेत्र में विद्रोह का बीज वपन किया था।

वहाँ एक सजातीय औदीच्य गुजराती ब्राह्मण अमरलाल ने उनके भोजनाच्छादान का प्रबन्ध कर दिया। वे ३ वर्ष तक वहाँ रहे। १८६३ में अपने मिशन पर फिर रजवाड़ों की ओर चल पड़े। प्रगट में धर्म का उपदेश करते थे, पर अन्तरंग में विद्रोह का सृजन। उनकी यात्रा का क्रम यह था। मथुरा, आगरा, धौलपुर, आबूपूर्वत ग्वालियर महाराज से सम्पर्क (१९२२ वि० अर्थात् १८६५ ई०)- करोली स्टेट मई १८६५ ई० जयपुर की अचरोल स्टेट, जयपुर, दूदू, किशनगढ़ स्टेट, अजमेर, पुष्कर सम्वत् १९२२ अजमेर (कर्नल ब्रुक से गौ रक्षा पर वार्तालाप)–कृष्ण गढ़, संगरूर, आगरा १९२३ वि० अर्थात् १८६६ ई० मथुरा।

यह स्थान प्राय: छोटी-छोटी तत्कालीन स्टेटें हैं। जहा स्वराज्य के कुछ चिह्न शेष थे। उनके गुरु विरजानन्द ने उन्हें वहां भेजा था। यह राउन्ड पूरा करके वे गुरु जी के पास फिर लौट आये। प्रतीत होता है कि बे बड़े-बड़े घरानों से सम्पर्क नहीं कर पाये। जिनसे किया वे भीरु थे। तब उन्होंने इस योजना को फिर कुछ काल के लिये स्थगित कर दिया।

(३) तृतीय देशाटन=गंगा के देश में धर्म प्रचार=१८६६-१८७६ ई०) दयानन्द सरस्वती को पथ नहीं सूझ रहा था। इस बार उन्होंने गंगा के किनारे-किनारे फिर चलकर जनमन को टटोलने का प्रयत्न किया। भूत में भी महापुरुषों ने सारे देश का पर्यटन किया था। तभी जनता की नाड़ी की गति ज्ञात होती है। मथुरा से हरिद्वार पहुँचे और वहाँ पाखंड खंडिनी–पताका फहरा कर धर्म प्रचार प्रारम्भ किया था। वहाँ से उनके पर्यटन का यह क्रम रहा :– ऋषिकेश, कनखल, तजौर, शुक्रताल, परीक्षित गढ़, गढ़ मुक्तेश्वर, कर्ण वास, फर्रुखाबाद, चासी, रामघाट, कर्णवास, अनूप शहर, राम–

घाट (१९२४ वि०)—बे ोन, कर्णवास, गढ़ियाघाट (१९२५ वि०)—सोरों, कर्णवास (१९२५ वि०) का राव कर्णवास काण्ड, अम्वागढ़, सरदौल, शाहबाजपुर कादिरगंज, नरदोली, ककोड़ा (मेला स्थल)—कायमगंज, शम्सावाद, फर्रूखाबाद (१९२५ वि०)—जलालाबाद, कन्नौज (१९२६ वि०)—मदारपुर, कानपुर, काशी (१९२६ वि०) (२२ अक्टूबर १९६९)—प्रयाग, मिर्जापुर, बनारस (१९२७ वि०)—कासगंज, जलेसर, सोरों फर्रूखाबाद, अनूपशहर, पटना, मुंगेर भागलपुर, कलकत्ता (१९२९ वि०) जून १८७३) लार्ड नार्थबुक से भेंट, हुगली, भागलपुर, श्रपरा, आरा, मिर्जापुर, प्रयाग, कानपुर, फर्रूखाबाद, (१८३० वि०)—कासगंज, जलेसर, अलीगढ़ (१९३० वि०) हाथरस, वृन्दावन, (वि० २९३०)—मथुरा, काशी, मिर्जापुर, प्रयाग में, सत्यार्थ प्रकाश पूर्ण किया, बम्बई (१९३१ वि०) (आर्य समाज की स्थापना)—सूरत, भड़ोंज (नर्मदा तट)— अहमदाबाद, राजकोट-नवलग , बम्बई, बम्बई के उपनगर गिरगाँव में—विधिवत आर्यसमाज का आरम्भ (७-४-१८७५) चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (बुधवार)—(१९३१ वि०)। अहमदाबाद, बड़ौदा, पूना आषाढ़ (१९३२ वि०) सतारा बम्बई (५-३-१७७६ ई० को मौनियर विलियम्स से भेंट) फर्रूखाबाद (९-५-१८७६ ई०) काशी, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहाँपुर, बरेली- मुरादाबाद, दिल्ली।

दिल्ली में जनवरी १८७७ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड लिटन ने राजकीय दरबार करना था, जिस पर देश-भर के प्रमुख पुरुष आमन्त्रित थे।

वहाँ रहकर स्वामी जी सर सैयद अहमद प्रभति सब धर्मों के प्रमुखों से मिले और एकता स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे कि

भारत के स्वातन्त्र्य में वे सब लोग मिल जायें। एक ईश्वर मात्र को पूजा को मानकर सब सम्प्रदाय मिल जायें। पर उनकी किसी ने न सुनी। सर सैयद अहमद के विचारों से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। इस अलीगढ़ी की सारी प्रवृत्ति उन्होंन भाँप ली थी कि वह व्यक्ति कितना भयंकर सिद्ध होगा। उन्होंने तब सत्यार्थ प्रकाश का उत्तरार्द्ध लिखकर मुस्लिम तथा क्रिस्टान मतों की टीका की और आर्य समाज के विस्तार को भी उन्होंने प्राथमिकता दी।

१३.०१.०५ चतुर्थ देशाटन = आर्य समाज के विस्तार हेतुः—(१८७७-८०) पंजाब की जनता ने सन् १८५७ के विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया था। उल्टे उनके शान में कोई कसर नही छोड़ी गई थी। अस्तु, दयानन्द सरस्वती अपने द्वारा निर्मित राजनैतिक पार्टी आर्य समाज का सन्देश लेकर इस बार उधर को चल पड़े। ताकि भारत के इस भूभाग में राष्ट्रीयता का बीज-वपन कर सकें। उनके इस देशाटन का क्रम यों था :—

(४) चौथा देशाटन—(दिल्ली (१८७७)—मेरठ, सहारनपुर, चांदपुर—(मार्च १८७७ ई०) : सहारनपुर लुधियाना (३१-५-१८७७ ई०)यहाँ आर्य समाज के १० नियम बनाये। अमृतसर(स०१९३४वि०) गुरुदासपुर (१२-८-७७ ई०)—जालन्धर(१३-९-७७ ई०)—फिरोजपुर, (२६-१०-७७) लाहौर रावलपिण्डी (७-११-७७ ई०) गुजरात, झेलम, गुजराँवाला, लाहौर (१३-१-७४ ई०) मुल्तान, लाहौर, अमृतसर, रड़की (जुलाई ७४ ई०)—अलीगढ़, मेरठ, देहली, जयपुर अजमेर, मसूदा, नसीराबाद, रिवाड़ी, देवल, मेरठ, सहारनपुर, रुड़की, हरिद्वार— (२७-२-७९ ई०) ज्वालापुर, देहरादून, सहारनपुर, मुरादाबाद बदायूँ, बरेली (१४-८-७९ ई०) शाहजहाँपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, मैनपुरी, मेरठ, देहरादून, आगरा, राजस्थान।

यह सब वे स्थान हैं, जहाँ अंग्रेजों की फौजी छावनी थीं।

(५) पाँचवाँ देशाटन-राजस्थान में—(१८८१-१७७३) ई०) : पंजाब और निकटवर्ती तत्कालीन उत्तर प्रदेश में उर्दू भाषी भूभाग में हिन्दी भाव जगाकर वे पुनः राजस्थान के बड़े राजघरानों को समझाने के लिए पुनः राजस्थानकी ओर चल पड़े। इस बार यह आयोजन जाटों के भरतपुर से शुरू हुआ।

अब हम राजस्थान के इस दौरे का विशेष विवरण देते हैं। भरतपुर में दस दिन रहकर २० मार्च १८८१ को वे जयपुर पधारे। ठहरने की व्यवस्था ठाकुर साहब अचरोल थी रघुनाथ सिंह जी ने गंगोपाल (बाहर मदनपुरा) स्थित अपने ही उद्यान ने की थी।

मसूदा नरेश राव श्री बहादुर सिंह जी के व्यक्तिगत साग्रह निमन्त्रण पर स्वामीजी महाराज २२ जून १८८१का मसूदा आ विराजे जहाँ आप १८ अगस्त तक विराजमान रहे। यहाँ आपके ठहरने की व्यवस्था राजकीय उद्यान राम बाग में की गई।

स्वामीजी वहाँ से ब्यावर होते हुए १९ अगस्त को रायपुर पहुँचे। ठाकुर साकुब हरिसिंह जी ने स्वामी जी का भव्य स्वागत किया। यहाँ भी स्वामी जी महाराज के सार्वजनिक उपदेश होते रहे। महाराज ने परामर्श दिया कि यवन को राजमंत्री न बनायें। लगभग २० दिन ठहकर स्वामीजी यहाँ से ब्यावर लौट आये।

व्यावर से स्वामीजी यहाँ से व्यावर लौट आये।

व्यावर से स्वामीजी फिर मसूदा होते हुए १० अक्टूबर को बनेड़ा पहुँचे। रास्ते में कुछ समय से लिए हुरडा, रूपाहेली व रतेड़ा रुके। बनेड़ा पहुँचने। पर वहाँ के नरेश राजा गोगिन्द सिंह जी ने आपका बड़ा ही सम्मानपूर्वक स्वागत किया। स्वामी जी महाराज ने

राजा साहब और उनके पारिवारिक सदस्यों को विशेष कर उनके पुत्रों को राजनीति का सम्यक बोध कराया ।

बनेड़ा से स्वामीजी महाराज २६ अक्टूबर १८८१ को चित्तौड़ पधारे । यहाँ आपके निवासादि की सारी व्यवस्था मेवाड़ राज्य की ओर से की गई थी । गम्भीरा नदी के तट पर विशेष कैम्प लगाये गये थे और सशस्त्र पहरे का प्रबन्ध किया गया था । इन दिनों चित्तौड़ में बड़ी धूम-धाम थी । वायसराय लार्ड रिपन ने यहाँ बड़ा दरबार बुलाया था । जिसमें महाराणा साहब उदयपुर—श्री सज्जन-सिंह जी को के० सी० एस० आई० से सम्मानित करना था । इस अवसर पर आस पास के राजे महाराजे और मेवाड़ राज्य के कई सामन्त सरदार यहाँ आये थे । अतः मेवाड़ राज्य के तत्कालीन दीवान श्री मोहनलाल विष्णुलाल जी पण्डया और कविराज श्री श्या-मल दास जी ने स्वामीजी महाराजा के इन्ही दिनों यहाँ पदार्पण की विशेष व्यवस्था की थी, तकि अधिक से अधिक राजे-महाराजे स्वा-मीजी के सत्संग से लाभ उठा सकें । शाहपुराधीष-राजधिराज श्री नाहरसिह जी ने स्वामीजी महाराज के सर्वप्रथम यहीं पर दर्शन किये थे और तभी से वह महाराज के पूर्ण शिष्य बने । महाराणा उदयपुर और अन्य सभी आगुन्तक राजे-महाराजे व सामन्ती सरदार प्रतिदिन स्वामीजी महाराज की सेवा में उपस्थित होते और उनके उपदेशामृत का पान करते । दरबार की समाप्ति पर भी कई दिनों तक यह सिलसिला जारी रहा ।

पुनः बम्बई से लौटते समय महाराज खण्डवा, इन्दौर, रत--लाम, जावरा, आदि नगरों में धर्मोपदेश करते हुए ११ अगस्त १८८१ को उदयपुर पहुँचे । निम्बाहेड़ा से उदयपुर तक की यात्रा का पूरा प्रबन्घ सवारी आदि का—महाराणा साहब उदयपुर की ओर से किया

गया था। उदयपुर में महाराज के ठहरने की सम्यक व्यवस्था सज्जन निवास उद्यान में की गई थी। महाराज साहब ने व अन्य गण्यमान्य सज्जनों ने महाराज का स्वागत-सत्कार किया। श्री पण्डया जी व कविराज श्यामलदास जी के अलावा अन्य राज्याधिकारी श्री स्वामी-जी महाराज से नियमित शिक्षण प्राप्त करते और उनकी देखादेखी महाराव साहब भी नित्य प्रति शिक्षण, के लिए उपस्थित होते। स्वामीजी महाराज ने उन्हे मनुस्मृति का राज्य प्रकरण विशेष रूप से पढ़ाया।

लगभग ४ मास तक दयानन्द सरस्वती हिन्दू-कुल-तिलक शिसोदिया घराने के स्वतन्त्र उदयपुर राज्य में टिके रहे जो महाराणा प्रताप के वंशज थे। उन्हीं के जय जगदीश हरे मन्दिर से वे आर्य आरती लाये थे। महाराणा ने उन्हें सार्वजनिक विदाई दी। विदाई से पूर्व दयानन्द सरस्वती ने वहाँ अपने उत्तराधिकार का प्रपत्र लिखा और परोपकारिणी सभा निर्मित करके उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। महाराणा उदयपुर को ही उसका उन्होंने प्रधान बनाया था।

उदयपुर से स्वामीजी चित्तौड़ होते हुए ९-३-८३ को शहपुरा पहुँचे। वहाँ भी महाराज को राजनीति के उपदेश दिये।

१९-५-८३ को शाहपुरा से चलकर वे अजमेर पहुँचे और २९ मई को पाली, रोहट होते हुए ३१-५-८३ को वे महाराज जोधपुर के निमन्त्रण पर वहाँ पहुँचे। राव राजा जसवन्त सिंह ने नगर से २ मील दूर जा उनका स्वागत किया और दीवान फेजुल्लाखाँ की कोठी पर ठहराया।

इन्हीं फेजुल्ला खाँ के पौत्र श्री वरकतुल्ला खाँ १९७२ में राजस्थान के मुख्य मन्त्री थे। उन्होंने यह कोठी आर्य समाज को दिला दी है।

एक दिन स्वामी जी महाराज नियत समय पर जोधपुर नरेश के महलों में गये। तब नन्हीं जान वेश्या महाराज साहब के पास ही थी। स्वामी जी को आते देख महाराज साहब ने उसे तुरन्त चले जाने का आदेश दिया। कहारों ने डोली उठाई पर उठाने में देर होते देख महाराज साहब ने स्वयं सहारा लगाकर उसे उठवाया। स्वामी जी ने यह सब देख ही लिया। और महाराज साहब के निकट पहुँचकर बड़े ही दृढ़ शब्दों में महाराजा साहब को उपालम्भ दिया कि 'राजन् राजा सिंह समान समझे जाते हैं और वेश्या कुतिया सदृश वीर शार्दूल का कृपण कुतिया पर प्रेम करना सर्वथा अनुचित है। इससे मान मर्यादा को बट्टा लगता है। इस दुर्व्यसन को तिलांजलि देना ही चाहिए। प्रतिकार की धधकती ज्वाला वेश्या के हृदय में वहाँ जलने लगी। विरोधी तत्त्वों के साथ साँठ गाँठ करके स्वामी जी महाराज के प्राण हरण की योजना बननें लगी। कुछ ही दिनों में स्वामीजी के रसोइये जगन्नाथ को येन केन प्रकारेण फुसलाकर अपने विश्वास में लिया और उसके हाथों २९ सितम्बर १८८३ की रात्रि को दूध में हलाहल विष (काँच का चूर्ण) स्वामी जी महाराज को पिलवा दिया गया।

विष देने का जब महाराज साहब को व ''रप्रताप को पता लगा तो सभी उपस्थित हुए। उपचार का प्रबन्ध किया गया। स्वामी जी के भक्त डॉ० सूर्यमल जी का उपचार प्रारम्भ हुआ। पर न जाने क्यों दूसरे ही दिन एक अति ही साधारण डॉ० अलीमदीन खाँ का इलाज चालू कराया गया। स्वामी जी महाराज को २६ अक्तूबर को अजमेर पहुँचाया गया। स्वामी जी महाराज को मिनाय भवन में ठहराया गया। ३० अक्तूबर सन्ध्या के लगभग ६ बजे दीवाली के दिन महाराज ने कहा, 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो।' और अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया। □

द्वितीय अध्याय

तत्त्व मीमांसा

अनादि सत्ता कितनी मानी जायें इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में प्रारम्भ से लेकर आज तक मतभेद रहा है । महर्षि दयानन्द के अनुसार ऋषि प्रणीत षड् दर्शनों से तो इस सम्बन्ध में मतभेद नहीं रहा है । परन्तु उनके भाष्यकारों और मध्यकालीन दार्शनिकों में यह विवाद पराकाष्ठा तक पहुँच गया । पश्चिमीय दार्शनिकों में भी यह मतभेद न्यून नहीं है । भारत में तो यह विवाद इतना विस्तृत हुआ कि इन वादों के आधार पर अनेकों मतों की सृष्टि हो गई । एक गांव का रहने वाला भले ही उस वाद के गहन और सूक्ष्म तत्त्वों को न जान सके परन्तु वह झट कह देगा कि मैं अद्वैतवादी हूं या द्वैतवादी । अस्तु । महर्षि दयानन्द त्रैतवाद को मान्यता देते हैं। उन के अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकति ये तीनों पदार्थ नित्य है । प्रत्येक कार्य के लिय तीन प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह संसार एक कार्य है, घट की तरह । जैसे घट को बनाने के लिये कुम्भकार, मिट्टी और चक्र आदि की आवश्यकता है इसी प्रकार संसार की रचना में भी तीन वस्तुयें कारण हैं । ईश्वर जीव और प्रकृति । संसार के प्रत्येक पदार्थ में हमें तीन कारण स्पष्ट दिखाई देते हैं । जैसे कुम्भकार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान कारण और चक्र आदि साधारण निमित्त कारण हैं इसी प्रकार जगत् की रचना में ईश्वर निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीव साधारण निमित्त कारण है । यदि इन में से किसी भी कारण की न्यूनता हो जाये तो विश्व की रचना सम्भव नहीं है । जैसे यदि कुम्भकार के

पास मिट्टी न हो तो वह घट का निर्माण नहीं कर सकता, चक्र गधा आदि न हो तो भी वह घट का निर्माण नहीं कर सकेगा। कुम्भकार भी न हो तो घट का निर्माण नहीं हो सकता है।

वेदों के अन्तः साक्ष्य से लेकर आचार्य शंकरादि ने वेदों के ज्ञान को प्रामाणिक और ईश्वर प्रदत्त माना है। महर्षि दयानन्द ने, इस युग में आकर वेद के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणायें उत्पन्न हो गई थीं, उस भ्रान्त विचारधारा का खण्डन ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका और सत्यार्थ-प्रकाश तथा वेदों का भाष्य रचकर किया है। वेदों के भाष्य की परम्परा में रावण से लेकर स्कन्द स्वामी उद्गीथ, वररुचि भट्ट भास्कर महीधर, उव्वट और सायण मध्यकालीन भाष्यकार और वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द, श्री अरविन्द, जयदेव विद्यालङ्कार, पण्डित धर्मदेव, स्वामी ब्रह्ममुनि प्रभृति विद्वान् हैं। मध्यकालीन भाष्यकारों में प्रमुख रूप से आचार्य सायण का नाम अधिक प्रसिद्ध है। सायण के वेद-भाष्य में प्रायः कर्मकाण्ड को ही अधिक महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार उन्होंने प्रायः सभी मन्त्रों की संगति यज्ञों के विनियोग तक ही सीमित-सी कर दी है, जिससे उसका भाष्य संकुचित होकर बौद्धिक नहीं रहा है। उसने स्वयं ही वेद का विषय कर्मों का व्याख्यान माना है।[1] पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों का नवीन विकासवादी दृष्टि से भाष्य किया है। इन का अभिप्राय वेदों में प्राचीन आर्यों के परिवार का या समाज का या प्रारम्भिक अवस्था से विकास का वृत्तान्त। है इन विद्वानों पर

---

१ "एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता······
कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्"
(काण्वसंहिता-सायण आचार्य कृत भाष्य उपक्रमणिका से)

सायण का प्रभाव है । यद्यपि इन विद्वानों ने परिश्रम किया है, स्वच्छन्द उड़ाने एवं कल्पना भी की हैं, परन्तु वेद में जो ज्ञान विज्ञान भरा है वहां तक ये लोग नहीं पहुँच सके हैं । कुछ पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों को गडरियों का गीत भी कहा है, परन्तु इस का दोषी श्री अरविन्द जी ने आचार्य सायण को ठहराया है ।[1] चाहे मध्यकालीन भाष्यकार हों अथवा योरोपीय उन्नीसवीं शताब्दी के विद्वान् हों दोनों का ही वेदों के मन्त्रों का भ्रान्त अर्थ करने का एक प्रमुख कारण यह था कि–मन्त्रों या सूक्तों में आये देवता । ये भाष्यकार, देवता से अभिप्राय उस मन्त्र या सूक्त की प्रतिष्ठापित शक्ति से लेते थे । परन्तु महर्षि दयानन्द ने निरुक्त प्रक्रिया, जो आर्ष मानी जाती है, उस को माना और मन्त्रों के देवता का अर्थ किया—"मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय" अर्थात् निरुक्त में (Subjective Matter) स्पष्ट कहा है कि दैवत उसको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो संज्ञा जिस-जिस अर्थ की होती है, उन उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है ।[2] जैसे ओं वाचं ते शुन्धामि–मन्त्र का देवता विद्वान्सः

---

१ वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिये सायण उत्तरदायी हैं कि वेद एक ऐसे आदिम जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति संहिता है जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के जगत् के विषय में जिनका दृष्टिकोण बिल्कुल बच्चों जैसा था (वेद रहस्य भाग–१ (पृष्ठ–३१ श्री अरविन्द, अनुवादक अभय, १९४८)

२ यत्काय ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यन् ।
इच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद् देवतः स मन्त्रो भवति (निरुक्त अ० ७-१)
(ऋग्वेदादि, भाष्य, भूमिका, वेद, विषय–विचार)

है। इस का अर्थ यह हुआ कि इस मन्त्र में विद्या से सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन होना चाहिये जैसा कि महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद के इस ६ अध्याय के १४ वें मन्त्र का अर्थ उक्त अभिप्राय से किया है। परन्तु उव्वट ने देवता शब्द का समुचित अर्थ नहीं लिया, इसलिए अजा के बच्चे मेमने की यज्ञ में आहुति करते समय इस मन्त्र को बोल कर उसके अंगों के प्रक्षालन के लिये विनियोग रूप में माना है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में भाष्यकरणसमाधानादिविषय नामक अध्याय में महर्षि दयानन्द ने महीधर सायण उव्वट प्रभृति विद्वानों के कुछ मन्त्रों को भाष्य की तुलना में रखकर यह सिद्ध कर दिया कि इन्होंने वेद मन्त्रों के भ्रान्त अर्थ कर संसार में संकुचित विचारधारा का प्रसार किया। इसलिये ही श्रीअरविन्द ने महर्षि दयानन्द की भाष्य शैली को वैज्ञानिक एवं सत्य का उद्‌घाटन करने वाली शैली माना है। उनकी भाष्य शैली के विषय में श्री योगी अरविन्द के उद्‌गार "ऋषि दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों सत्य पाये जाते हैं, कोई कल्पित बात नहीं मैं इस के साथ अपनी धारणा जोड़ना चाहता हूं कि वेदों में एक दूसरे विज्ञान की सचाइयां भी विद्यमान हैं—दयानन्द का प्रबल प्रमाणों के आधार पर विश्वास था कि वेद में परमेश्वर, प्राकृतिक नियमक, आत्मा और प्रकृति······पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्या ज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच में यह उस की ऋषि दृष्टि थी, जिसको बन्द करके रखा था। उसकी चाबियों को उसी ने पा लिया और बन्द पड़े हुये स्रोत की मुहरों को उसी ने तोड़ कर परे फेंक दिया।1"

---

1 ("There is nothing fastastic in Dayananda's idea that veda contains truth of science as well as truth of religion. I will

वेदों में यथार्थवाद (त्रैतवाद)—

महर्षि दयानन्द ने वेदों में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति तथा सभी आध्यात्मिक सामग्री के साथ वेदों में गणित विद्या आदि विज्ञान सम्बन्धी विद्याओं का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि उनके इस प्रयास पर अनुसन्धान करके कोई आविष्कार वैदिक विद्वानों ने अभी तक नहीं किया है, परन्तु जिस समय विमान विद्या का आविष्कार नहीं हुआ था, उससे लगभग ३० वर्ष पूर्व ऋग्वेदिभाष्य भूमिका में वेद मन्त्रों के अर्थ निकाल ऐसे विमानों का वर्णन उन्होंने किया, जिनकी कल्पना भी यूरोप जगत् में नहीं थी।[1] श्री अरविन्द तो उनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि "मैं तो यहां तक कहूंगा कि वेदों में कुछ वैज्ञानिक सत्य तो ऐसे भी हैं जिन्हें आधुनिक

---

even add my own conviction tnat ved contains other truths of science the modern world......... It is Dayananda held on strong enough grounds, the vedas reveals to us God...... & Soul.........God and nature......... I coavinced that what ever may be the final complete......... Dayanand will......... the firts discover of the right clue. A mids..... ...., misunderstanding his was the eye of direct vision........... ......truth and fastened.............. He has found the Keye of the doors that time has closed and as under seals of the in presoned of untains."

(Sri Aurbindo, Bankim, Tilak Dayanand P.57 3rd. Ed.)

---

१ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में नौविमानादि अध्याय में ऐसे विमानों का वर्णन हुआ है। एक विमान पृथ्वी, जल और आकाश तीनों में चल सकता है।

विज्ञान जानता तक भी नहीं ।1 महर्षि दयानन्द के इस सूक्ष्म अन्वेषण का परिणाम यह निकला कि वेद जो अभी तक सायणादि विद्वानों तक कर्मकाण्ड की पुस्तक थी और पाश्चात्य विद्वान् जिसमें केवल प्रकृति की शक्तियों की पूजा मानते थे, अब अध्यात्म तथा ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक हो जाती है । जिसमें एक वैज्ञानिक धर्म का प्रतिपादन और अन्य विद्याओं के मूल (बीज) भी प्राप्त हो जाते हैं ।

इन उक्त हेतुओं से यह समझने में सहायता मिलती है कि कुछ विद्वान् जो यह मानते हैं कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति की गई है, उनकी यह मिथ्या कल्पना है । जिस आध्यात्मिक विद्या का वर्णन उपनिषदों में हुआ है, उसका स्रोत वेद है । अर्थात् वेदों के विरुद्ध उपनिषदों में कुछ भी नहीं कहा गया है ।

महर्षि दयानन्द वेदों में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं । जिसको कि हम त्रैतवाद नाम दे सकते है । इस त्रैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति को यथार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है, जिस प्रकार उपनिषदों में केवल एक ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है, इसी प्रकार वेद भी एक ईश्वर की उपासना मानता है। ईश्वर को अनेक नामों से कहा गया है, उसके असंख्य नाम हो सकते हैं । वे अनेक नाम बहु देवतावाद के द्योतक नहीं हैं, अपितु एक ही ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के नाम हैं । जैसा कि यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में श्वेताश्वेतरोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि वह ब्रह्म अनेक नामों से कहा गया है, उसी को अग्नि, उसी को

द्रष्टव्य–पृष्ठ(२१७ से २२७ तक विविध विमानों का वर्णन उन्होंने सन् १८६८ ई० में किया है, जबकि पहिला वैलून १९०२ में उड़ा था लोक–लोकान्तर में जाने की तो समस्त पश्चिमी जगत् में कल्पना भी नहीं थी)।

आदित्य, उसी को वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आप आदि नामों से कहा जाता है।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद में प्रतिपादन किया गया है कि ये इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वा आदि नाम उसी ईश्वर के हैं। अर्थात् वह एक है, विद्वान् लोग उसको अनेक नामों से कहते हैं।[2]

उसी परमात्मा को जानो जिसमें सभी देव समाये हुये हैं अर्थात् जो सब में व्यापक है, यह ऋग्वेद और श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट उपलब्ध होता गया है।[3] उपनिषदें वेदों को प्रमाण मान कर चलती हैं, न कि वेदों का खण्डन करती हैं। उस अक्षर पर–ब्रह्म का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् ने स्वीकार किया है कि जिस ब्रह्म को प्राप्त करने का सभी वेद उपदेश देते हैं, उस ब्रह्म को जानो। ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय द्वारा उसी परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं।[5] मुण्डकोपनिषद् में तो कहा है कि उस परमात्मा का

---

१ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा आपः स प्रजापति (यजु० ३२०१) (श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४.२)

२ इदं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्य ? स सुपर्णो गरूत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्तिअग्नि यमं मातारिश्वानमाहुः ।।

३ ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि (ऋ१.१६४.४६)
विश्वेनिषेदुः । यस्तन्नवेदकिमृचाकरिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते (ऋग्वेद १.६४.३९ श्वेताश्वे०–४–८)
तथा तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
(बृहदारण्यको० ४–४–२२)

४ सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति (कठोपनिषद् २.१५)

५ तथा तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति (वृहदा० ४.४.२२)

अग्नि मुख है, चन्द्रमा और सूर्य चक्षु हैं, दिशायें श्रोत्र हैं, तथा ऋग्वेदादि वेद उसकी खुली हुई वाणी हैं।[1] ये ऋग्वेद साम और यजु: उसी परमात्मा के द्वारा प्रकाशित ज्ञान हैं ? अत: इन मुख्योपनिषदों की अन्त: साक्ष्य के अनुसार वेदों की उपनिषदें प्रमाण रूप में स्वीकार करती हैं। यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय और ईशोपनिषद् में तो कुछेक मन्त्रों को छोड़कर कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है। अन्यत्र वेदों के मन्त्रों को ज्यों का त्यों उपनिषदों में ग्रहण किया गया है। ये उपनिषदें रसों के भी रस हैं। वेद रस हैं और उपनिषदें उनके रस हैं! ये उपनिषदें अमृतों के भी रस हैं, वेद अमृत हैं, ये उनकी अमृत हैं।[3] तप, दम और कर्म ये उपनिषदों के आधार हैं और वेद ही उपनिषदों का सब शरीर है।[4] कुछ प्रमाण तो हम पीछे दे चुके हैं और शेष प्रसंगानुसार दिये जायेंगे। जैसा कि पूर्व कह आये हैं कि यथार्थवाद से हमारा अभिप्राय ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति एवं प्रकृति से निर्मित पदार्थों से है। जब यह सिद्ध हो गया कि उपनिषदें वेदों के विरुद्ध नहीं, अपितु वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार करती हैं। अब यह अवलोकन एव सिद्ध करने का प्रयास

---

१ अग्निमूर्धा चक्षुषीचन्द्रसूर्योदिश श्रोत्रेवाग् विवृताश्चं वेदा:।
वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्याँ पृथिवी ह्येष सर्वभूतातंरात्मा॥
(मुण्ड० २.१.४)

२ तस्मादृच: साम यूजषि दीक्षा: (मुण्डको० ४.१.६)

३ ते वा एते रसानां वेदाहिरसास्तेषामेतेरसा:।
तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि,वेदाहयमृतास्तेषामेतान्यमृतानि।
(छान्दोग्य ३.५.४.)

४ तस्ये तपौदम: कर्मंति प्रतिष्ठ:वेदा,
सर्वांगानि सत्यमायतनम्॥ (केन० ४.७.८)

किया जाय कि इन तीनों तत्वों में दोनों अर्थात् उपनिषदें और वेद जैसे एकमत अथवा साम्य रखते हैं।

वेद में एक ईश्वर :—

उपनिषदों में जो सिद्धान्त प्रचलित है वह यह कि उपनिषदों का ब्रह्म एक है। आचार्य शङ्कर के सिद्धान्तानुसार तो ब्रह्म ही एक मात्र सत् है शेष मायोपहित चैतन्य हैं। ब्रह्म ही संसार का अभिन्न-निमित्तोपादन कारण है। परन्तु यदि उपनिषदो का आधार वेद माना जाय तो परस्पर संगति से ऐसा अर्थात् आचार्य शङ्कर का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि वेदों में अनेक मन्त्र एक ब्रह्म का प्रतिपादन तो करते हैं परन्तु साथ ही आत्मा अर्थात् जीवात्मा और संसार के पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार की गई है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी वेद मन्त्रों को लेकर उसी प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जैसा कि वेद ने किया है। अन्तर केवल इतना है कि वेद एक सागर है जिसमें सभी प्रकार की विद्याओं का वर्णन बीज रूप में हुआ है। उपनिषदें वेद के केवल एक अंग अर्थात् ज्ञानकाण्ड की अनुभूति परक व्याख्यायें प्रस्तुत करती हैं। उपनिषदों के उन वचनों का अभिप्राय तो हम आगे अध्यायों में स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे, यहां केवल वेद और उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी मन्त्रों का साम्य दिखाना ही उचित है।

जिस प्रकार उपनिषदों में एक ब्रह्म माना है इसी प्रकार वेदों में भी एक ईश्वर का वर्णन आया है।

१ सृष्टि में जो कुछ भी जड़ चेतन संसार है वह समस्त परमेश्वर से व्याप्त है।

---

१ ईश्वास्यभिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् (यजु० ४०-१ ईशो०१)

१ जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनों का एक पति परमेश्वर है। इसी परमसत्ता का वर्णन परमपुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों ने अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।

२ जहां ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता। क्योंकि ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

३ विद्वान् ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।

४ हम लोग अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर की, जो जंगम स्थावर सबका स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उसकी प्रार्थना करते हैं।

५ उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है।

---

१ पतिर्वबभूथासमो वनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।
(ऋ.६.३६.४.)

२ सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत् (अथर्व१०.८.३७)

३ यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्म जनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्मंतं वृहि कतमः स्विदेव स। (अथर्व० १०.७.१०)

४ ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसंगीर्भि सखप्यमृग्मियम्। गां दोहसे हुवे ॥
(ऋ० ६–४५–७)

रुचं ब्राह्म जनयन्त्रो देवो अग्रे तद ब्रुवन।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यातस्य देवा अमन्वंशे (यजु० ३१.२१)
ओ३म् ब्रह्म खं ब्रह्म। (यजु० ४०.१७)
तमीशानं न गस्तस्थुणस्पतिं (ऋ०अ०–१.अ०ग्र६ व० १५ मं० ५)

५ तदेवाग्निस्तदादित्य............यजु० ३१.१)

१ हे अखिल ऐश्वर्यं सम्पन्न परमेश्वर। आप से भिन्न तथा आप के तुल्य द्यौ लोक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा हम लोग लौकिक पदार्थ अश्व, हाथी आदि सवारियों की इच्छा करते हुए तथा दुग्धादि के लिये गांवों की इच्छा करते हुए ज्ञान और अन्न बल आदि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।

२ उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषणों से युक्त है।

पश्चिमीय मनीषी और पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है, ब्रह्म विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।3

---

२ न त्वां वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तामघवान्निद्र वाजिनौ गव्यन्तस्तवा हवामहे।
(सामवेद उ० १.४ ११)

३ स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमवर्णमस्नाविरं शुद्ध मपापविद्धं कविर्मनीषि परिभूः स्वयम्भूयार्था तथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजु० एवं ईशो ४०।

3 "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the the Vendanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the assouation of tbe sacrificial mind."
(S.N.Dass Gupta A History of Indian philosophy
Vol. IP. 20 Printed 1922)

कुछ विद्वान् इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के अन्तिम
आते २ एकेश्वरवाद की भावना कुछ पनप गई थी। परन्तु महर्षि
दयानन्द तो इस विचारधारा के एकदम विपरीत उद्घोषणा करते हैं
कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त करने में है।[2] उनकी
अपनी मान्यता है कि सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है कहीं
साक्षात् रूप के कहीं परम्परा से है।[3] महर्षि दयानन्द अपनी इस
मान्यता को सिद्ध करने के लिए कठोपनिषद् का प्रमाण देते हैं।
समस्त वेद जिसके गीत गाते हैं वह ओ३म् है।[4] इतना ही नहीं अपितु
वेदान्त दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि वेदों में ब्रह्म का वर्णन
पाया जाता है।[5] वास्तव में वेदों में जिस ब्रह्म का वर्णन हुआ है, वह
ऐसा नहीं है कि उससे अधिक शक्तिशाली और कोई देव हो अपितु
वह देवों का देव है और सर्वशक्तिमान है। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ,
सर्वान्तिर्यामी आदि विशेषताओं से युक्त है। एकेश्वरवाद का वेदों में
जितना स्पष्ट और सुन्दर वर्णन हुआ है सम्भवत: अन्यत्र कहीं हुआ हो
फिर भी पश्चिमी विद्वानों ने यह तर्क कैसे दिया कि एकेश्वरवाद की
मान्यता आर्यों में द्रविड़ लोगों से आयी है। बिना किसी ठोस प्रमाण
से कहना केवल मिथ्या कल्पना मात्र है। अत: महर्षि दयानन्द के
अनुसार वेदों में बहुदेवतावाद या हीनोथियिज्म इन दोनों में से एक
भी नहीं है। मैक्समूलर की इस विचारधारा का खण्डन भी स्वयं

---

१ एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्यार्थे मुख्य तात्पर्यमस्ति।

२ तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेद वाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति।
(ऋग्वेदादिभाष्य० वे० वि०वि० पृष्ठ ५०)

३ क्वचित् साक्षात् क्वचितपरम्परयाच। (ऋग्वेदादि० पृष्ठ ४६,
सम्वत् २००८)। अत: परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। (वही पृष्ठ)

४ सर्ववेदायत्पदमामनन्ति (कठो० १. २. १५) तत्तु समन्वयात
(वे० १. १. ४)

ठोस प्रमाणों से हो जाता है कि कैथेथियिज्म एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा हीनोथियिज्म अर्थात् पृथक्-पृथक् देवताओं की पूजा[1] इस सम्बन्ध में महर्षि की धारणा है कि इस सम्बन्ध में देवता शब्द के अर्थ का अनर्थ किया है। यहां पर देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं करना चाहिए।[2] निरुक्तकार देव शब्द की व्युत्पत्ति करता है कि "देवोदानाद्वा, दीपनाद्धा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानोभव तीति वा अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश वा पालनादि करने (माता-पिता) देव है, द्युस्थान का भी जो प्रकाशक है वह देव है। अतः स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वेदों में एक ही ईश्वर की उपासना का विधान है।

वेदों की तरह उपनिषदों में भी ईश्वर के अनेक नाम आये हैं। जैसे महर्षि दयानन्द ने ईश्वर का मुख्यनाम ओ३म् बतलाया है, उपनिषदों में भी ओ३म् शब्द ईश्वर के मुख्य नाम के रूप में अनेकों स्थलों

---

1 "It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoing to have a name different from plytheism, to signify this worship of single God, each accupying for a time aspreme position and proposed for it the name of Kathenotheism that is worship of an God after another or of Heno-theism, the worship of single God"
(F Max Muller ··India wbat can it teach us P. 146-14. 1892)

२ यह उन वेदज्ञों की भारी भूल है जो देवता शब्द से ग्रहण करते हैं। (सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ—१७५)

पर आया है। इसी प्रकार ब्रह्म शब्द, मायाविन् आदि नाम से एक ही ईश्वर के आये है। इन नामों की विशेष व्याख्या तो और ईश्वर के स्वरूप आदि की विवेचना तो आगे की जायेगी यहां केवल उपनिषदों में आये ईश्वर वाचक शब्द दिये जा रहे हैं ताकि वेद और उपनिषदों के ईश्वर का साम्य देखा जा सके। उपनिषदों के ये नाम वेदानुसार हैं और प्राय: उसी प्रकार हैं जैसे वेदो में। वेदों में हमने देखा कि बहुदेवतावाद का खण्डन कर एक ईश्वर की स्थापना की गई है। वेदों की भांति उपनिषदों में यही कहा है कि वह परम ब्रह्म बहुत नामों से कहा जाता है। जैसे श्वेताश्तरोपनिषद् में कहा है कि उसी को अग्नि, उसी को आदित्य, वायु, चन्द्रमा, अग्नि आदि भी विभिन्न ईश्वर के ही नाम हैं।1 यह ओ३म् ही अविनाशी ब्रह्म है। यही सबका आलम्बन है।2 इस ओंकार का तप करने से ही, ब्रह्म, की प्राप्ति हो जाती है।3 यह ओ३म् अक्षर ही सब कुछ है। यह सम्पूर्ण जगत का उपाख्यान है। भूत; भविष्यत् और वर्तमान में ओंकार ही है।4 प्रश्नोपनिषद में भी कहा है कि हे सत्यकाम निश्चित है कि यह ओंकार ही ब्रह्म है इसी को अपर पर भी कहते हैं।5 फिर आगे कहा कि यह ओ३म् ही है।6 जिसे तप और ब्रह्मचर्य से जाना

---

१ तदेवाग्निस्तदादित्य...... (श्वेता० ४.२)

२ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम् (कठो० ११२, १६, १७)

३ स भूयं एन्घ नयौ निगृह्यतद्वदोभयं वे प्रणवेन देहे।

(श्वेता० ११।३)

४ य आमित्येतदक्षरमिदं सर्वं......सर्वमोङ्कार एव। (माण्डूक्य१)

५ एतद्वैसत्याम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार। (प्रश्नो० ५।२)

६ ओमिति ब्रह्म............ । (तैत्तिरीय० १।८)

जाना जाता है वह ओ३म् ही है।1 वह बिना पैर के चलता है बिना आंखो के देखता है।2 ब्रह्म संसार की सभी वस्तुओं से अति सूक्ष्म है तथा सर्वत्र आकाश के समान व्यापक है। उपनिषदों में ब्रह्म को भोग प्रदान करने वाला कहा है। और जीवात्मा को भोक्ता माना गया। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट उद्घोषणा की है कि दो सुन्दर परों वाले पक्षी एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर विराजमान हैं। एक उस वृक्ष के फलों का आस्वादन लेता है दूसरा साक्षी के रूप में अवलोकन कर रहा है।3 इस पर दयानन्द का अर्थ द्रष्टव्य है– इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह वृक्ष रूप संसार में पाप और पुण्य रूप फलों को अच्छी प्रकार भोगता है। और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।4 इससे अगले मुण्डकोपनिषद के ही वचन में स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है। प्रकृति की नाना प्रकार ही मोहात्मक शक्ति से मोह अर्थात् राग को प्राप्त हो रहा है। जो वीतराग योगी अपने आत्मा

---

१ तत्तै पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। (कठो० १।२।२५)

२ अपाणिपादौ जवनो गृहीत परत्य।
तमाहुरग्रयं पुरुषं महन्तम्॥ (श्वेता० ३।१९)

३ द्वा सुपर्णा सखाया समानं बृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्व द्वत्यनश्नन्नंन्योऽभिचाकशीति
(मु० उ० ३४।१।१)

नोट—ईश्वर के सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण उपनिषदों में आये हैं। यहां तो केवल वेद की तुलना के लिए अल्प ही प्रमाण दिए हैं।

को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है तब वह जीवात्मा उस की अनन्त महिमा और दिव्य सृष्टि का दर्शन करता है जो शोक से रहित हो जाता है।[1] इससे यह स्पष्ट हो गया कि उपनिषदों में भोक्ता जीवात्मा और भोग्या प्रकृति तथा इस पर शासन करने वाला ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। ब्रह्म, सर्वज्ञ, विभु, सर्वशक्तिमान सृष्टि रचियता, पालन कर्मो व संहर्ता है। जीवात्मा अल्प शक्तिवाला अणु तथा परिछिन्न है। कर्म में स्वतन्त्र परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। प्रकृति अचेतन परिणामी एवं जगत् का उत्पादान कारण है।[2] जो श्रुतियां उपनिषों में द्वैतवाद का प्रबल समर्थन करती है, उनको अद्वैतवादी यह कहते हैं कि ये व्यवहार काल की श्रुतियां हैं। उपनिषदों में इस बात का लेश मात्र भी अंश नहीं मिलता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन नहीं है ? यदि सृष्टि का वर्णन है तो मिथ्या क्यों कहा जाये ? पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करने का आधार क्या है? आचार्य शंकरब्रह्म को समझाने के लिए इस संसार का आश्रय लेते हैं फिर संसार मिथ्या और ब्रह्म पारमार्थिक वह कैसे हुआ अर्थात् मिथ्या पारमार्थिक सत्ता सिद्ध कैसे की जा सकती है ? वास्तव में व्यवहारिक स्तर में जो अद्वैतवादी भेद मानते

---

१ समाने वृक्षे पुरुषौनिमग्नौ नीशयाशोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्य मीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(मु० उ० ३।१।२)

२ आचार्य द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री
(इन लन्इों पर स्वामी ब्रह्ममुनि, आर्य मुनि, शंकरदेव काव्य-तीर्थ संस्कृत साहित्य विमर्श पृष्ठ १५ आदि का भाव द्रष्टव्य हैं।)

हैं, उससे महर्षि दयानन्द की त्रैतवादी या यथार्थवादी विचारधारा को ही बल मिलता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म को संसार का रचयिता कहा गया है कि जिससे समस्त महाभूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर उसी में रहते हैं। प्रलयावस्था में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में (अव्यक्तावस्था) चले जाते हैं।[1] इसी कारण महर्षि दयानन्द ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं। जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा कि पहिले सब असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति थी, उससे सत् अर्थात् व्यक्त हुआ, वह अव्यक्त से व्यक्त ब्रह्म ने ही किया है।[2] अभी हम पीछे यथार्थवादी उपनिषदों के प्रमाण पीछे देकर स्पष्ट कर आये हैं। यह व्यावहारिक स्तर है ऐसी अद्वैतवादियों की कल्पना प्रतीत होती है। इसमें उनके कोई ठोस प्रमाण प्रतीत नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में तो मैक्समूलर की भी धारणा है कि उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन जितने यथार्थवादी ढंग से पाया जाता है, उसे कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें भ्रमवाद को कहीं भी स्थान नहीं है।[3] वास्तव में उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन जिस रूप में किया है वह विशुद्ध यथार्थवादी है। स्वामी दयानन्द का

---

१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति·········(ते०उ० भृगुवल्ली अनु० १)

२ असद्वा इमदग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तथान्मानंस्वयमुकुरुत
(ते०अ० ब्रह्मानन्द व० अनु० ७ मं० १)

3 This idea that the world is only Maya and Dillus-tion, a vision a nothing was that colebrooke meant when he said it was absent from the Upnishdas and the orignal Vedanta Philosophy and so far he is right.
The Vedanta Philosophy P.70 Mexmuller.)

कथन है कि उपनिषदों में आचार्य शंकर के मायावाद का वर्णन कहीं भी जान नहीं पड़ता है। यह तो है कि माया शब्द उपनिषदों में आया है, परन्तु यहां माया आचार्य शंकर की माया नहीं है, अपितु माया का अर्थ प्रकृति है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट कहा है माया को प्रकृति जानो।[1] सांख्य दर्शन की प्रकृति और उपनिषदों की माया एक ही प्रतीत होती है। क्योंकि स्थान-स्थान पर उपनिषदों में सृष्टि रचना का जो वर्णन हुआ है, उसमें विवर्तवाद का कहीं उल्लेख नहीं जान पड़ता, अपितु परिणामवाद ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए ही सांख्य दर्शन अपने प्रकृति के परिणामवाद को श्रुति सम्मत बतलाता है।[2] उपनिषदों में जीव और प्रकृति को भ्रम कहीं नहीं कहा गया जैसा कि अद्वैतवादी रज्जु में सर्प का भ्रम बतलाते हैं, हां इतना अवश्य कहा गया है कि ब्रह्म नित्यों का नित्य है अर्थात् जीव और प्रकृति इन नित्य तत्त्वों का स्वामी अनादि ब्रह्म है।[3]

डा० राधाकृष्णन का मत है कि उपनिषदों की यथार्थवादी विचारधारा से आगे चलकर सांख्यशास्त्र में भी बल मिला है।[1]

---

१ मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ (श्वेताश्वेततो ४।१०)

२ श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य। (सांख्य० सू० ५।२)

३ नित्यो नित्यानां चैतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान्। (श्वेताश्वतरो० ६।३)

4 "The realistic tendencies of the Upnishadas receiveemphassis in the sankhya conception of the Universe"
(Indian Philosophy Vol. P. 2502.
Dr. RadhaKrishnan)

अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् मायावादी न होकर यथार्थवादी हैं।

सृष्टि का निर्माण होने से पूर्व प्रलयावस्था में प्रकृति किस अवस्था में थी, उसका क्या रूप था। सृष्टि निर्माण किसने किया इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वेदों में गम्भीरता से दिया गया। ऋग्वेद में नासदीय सूक्त में इस दार्शनिक समस्या का समाधान बड़ी ही तात्त्विक दृष्टि से किया गया है। पश्चिमी विद्वान् मोक्षमूलर जो वेदों को ऋषियों द्वारा विरचित स्वीकार करते हैं, उस नासदीय सूक्त के विषय में उनका भी कहना है कि इस सूक्त को परमात्मा ने ऋषियों पर अवतरित किया है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों का विवेचन करना यहां पर उचित जान पड़ता है।

१—उस समय अर्थात् प्रलयकाल में न असत् था और न सत् था और न ही परमाणुओं से भरा अन्तरिक्ष भी था। उस समय कहां क्या आच्छादित था ? किसके आश्रय से था और क्या बहुत अधिक गम्भीर जल था।1

२—तब उस समय न मृत्यु थी तथा न किसी प्रकार का जीव न था, रात्रि और दिवस भी नहीं था। वह एक (परमात्मा) अपनी शक्ति से स्वधा–प्रकृति के साथ बिना प्राण वायु के प्रणन कर रहा था, उससे परे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं था।2

---

१ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
(ऋ० ८।१२९।१)

२ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वाधया तदेकं तसमद्धान्यन्न परः किंचनास॥
ऋ० १०।१२०।२

३—उस समय सब कुछ अन्धकार था तथा अन्धकार से व्याप्त अव्यक्त प्रवृत्ति थी और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। वो तुच्छ था (ब्रह्म के सम्मुख प्रवृत्ति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त तो होने लगी। यहां महर्षि-दयानन्द का अर्थ द्रष्टव्य है।1

१—इस प्रलयावस्था के समय मन का रेत: जो पहले था उस-के ऊपर काम अर्थात् संकल्प हुआ मनीषी लोगों ने जान लिया कि इस असत् में सत् छिपा हुआ था।2

२—इन तीनों का किरण तिरछा फैला है, नीचे भी आश्चर्य-कारी था और ऊपर भी आश्चर्यजनक, वीर्य के धारण करने वाले थे, बलशाली जीव महान् थे, इधर आत्मा की धारणा शक्ति थी और

---

१ तम् आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तनमहिना जायतैकम् ॥

ऋ० १०.१२९.३ ।

२ यदाकार्य जगन्नोत्पन्नमासीत्तदा सत् सृष्टे प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत् । कुत: तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात् तस्मिन् काले सत् प्रवृत्याकमव्यक्तं, सत् सत्सज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्ना वर्तत:............किन्तु पर ब्रह्मण:............परम कारण संज्ञकमेव तदानीं सम वर्तत ।
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सृष्टि विद्या, विषय, (पृष्ठ—१३१
आठवीं बार सम्वत् २००८)

३ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्य काव्यो मनीषा ॥

(ऋ० १०। १२९।४)

पूरे प्रयत्न का बल था ।[1]

३—वस्तुत: कौन जानता है और कौन कह सकता है, कहां से निर्माण हुआ और कहां से विविध प्रकार की सृष्टि हुई है। देव (अर्थात् विद्वान् या सूर्यादि दिव्य पदार्थ) भी बाद में ही बने हैं। अब कौन यह जान सकता है कहां से यह सृष्टि निर्मित हुई है ।[2]

४—जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई, है वही इसका धारणा करता है। यदि न करे तो (सृष्टि विनष्ट हो जाय) यहां पर वा निश्चय के अर्थ में है। जो परम व्योम है इसका अध्यक्ष है, हे मित्र उसको जान, यदि उसको न जानेगा तो महती हानि होगी ।[3] (इन उपरोक्त मन्त्रों के अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और पं० जयदेव विद्यालङ्कार के भाष्यानुसार लिये गये हैं।)

कुछ आधुनिक विद्वान् जिन पर आचार्य शङ्कर का प्रभाव है, वे अद्वैतवाद का संकेत इसी सूक्त से ढूंढने का प्रयास करते हैं। यहां चिन्तनीय यह है कि सर्व प्रथम मन्त्र में सत् और असत् दोनों का ही उस अवस्था में होने का खण्डन किया है। यदि इस मन्त्र में यह

---

१ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधाआसन्महिमान आसन्त स्वधा अवस्तात् प्रयतिःपरस्तात् ॥
(ऋ० १०.१२९.५)

२ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाताकुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वागदेव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत जा बभूव ।!
ऋ० १०.१२९.६ ॥

३ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥
(ऋ० १०.१२९.७)

होता कि सृष्टि के पूर्व केवल सत् ही था कुछ भी नहीं था, तब तो आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त का प्रतिपादन समुचित जान पड़ता, क्योंकि आचार्य शङ्कर ने अपने दर्शन को जो आधार बनाया वह यह कि तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता वह सत् ब्रह्म है।[1] वेद इसके विपरीत कहता है कि उस समय सत् नहीं था, इसका मायावाद के अनुसार अर्थ यह होना चाहिये कि उस समय ब्रह्म भी नहीं था, क्योंकि आचार्य शङ्कर के अनुसार तो सत् का कभी बोध होता ही नहीं है। परन्तु वेद तो न सत् को मानता है और वह न असत् को ही मान्यता देता है। इसलिये इसका अभिप्राय: यही उचित प्रतीत होता है कि सत् का अर्थ है, यह कार्यरूप जगत् नहीं था, और असत् का अर्थ है कि अभाव अर्थात् पूर्णत: अभाव भी नहीं था अपितु कारण प्रकृति अव्यक्तावस्था में थी। ईश्वर अपनी ईक्षण शक्ति से ही उसमें गति देकर क्षोभ उत्पन्न कर देता है। यहां पर आचार्य सायण का अर्थ भी इस मन्त्र पर चिन्तनीय है क्योंकि उनका अर्थ इस प्रकार है — जगत् का कारण शशविषाण के समान निरुपाख्य नहीं था और न ही सद्रूप से ही निर्वाच्य था, किन्तु दोनों से विलक्षण अनिर्वाच्य था।[2] यहां पर स्पष्ट रूपेण सायण पर आचार्य शङ्कर

---

१ "त्रिकालाबाधितं सत्" (शङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र)।

२ जगतो मूल कारणं तदसच्छशविषाणवान्निरूपाख्यं नासीत्...... नो सन्नेवरुदात्मवत्सत्वेन निर्वाच्यमासीत्... उभयविलक्षणमनिर्वाच्य नैवासीत्। (ऋग्वेद संहिता १०.११.१२९.१)

चतुर्थ खण्ड सायण भाष्य।

मैक्समूलर सम्पा० चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी १९६६।

(इस प्रकार अज्ञान भावरूप है अर्थात् आकाश कुसुम के समान अभाव रूप नहीं है। उपर्युक्त का यह भाव है।)

का प्रभाव है। परन्तु सायण सम्भवतः यहां पर आचार्य शङ्कर के सत् शब्द के अभिप्राय को ओझल कर, न सत् था इसका अर्थ उनके सत् शब्द के अर्थ के विपरीत कर गये हैं। जब सायण शशविषाण के समान संसार के मूल कारण का अभाव नहीं स्वीकार करते हैं तो स्पष्ट रूप से प्रकृति को क्यों नहीं माना जाय, अनिर्वाच्य उसे क्यों कहा जाय ? वेदों में सृष्टि रचना का वर्णन बहुत ही दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया[1] यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। उपनिषदों में भी इसी प्रकार आया है। इसका अर्थ हम में कर आये हैं। अर्थात् दो पक्षी सुन्दर गतिशील प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। एक उदासीन भाव से देख रहा है। दूसरा इस प्रकृति रूपी वृक्ष के फलों का आस्वाद न ले रहा है। जो स्वाद ले रहा है, वह सुख-दुःख रूपी उसके परिणाम को भोगता है, दूसरा नहीं। यहां पर प्रकृति की उपमा वृक्ष से दी है।

वेद और उपनिषदों ने सृष्टि का अध्यक्ष ईश्वर को माना है। नासदीय सूक्त के अतिरिक्त यजुर्वेद के 'पुरुष' सूक्त में सृष्टि रचना का वृत्तान्त पाया जाता है। पुरुष सूक्त में इक्कीस प्रकार की सामग्री से ब्रह्माण्ड की रचना बताई गई है। एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियों का निर्माण किया।[2] आगे सूर्य चन्द्रमा आदि रचना दिखलाकर प्राणियों के शरीर की रचना का वर्णन है। इसी

---

१ ऋग्वेद १.१६४.२।

२ एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघ मण्डल का वायू, चौथा वृष्टि जल और वृष्टि और जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं। सातवां सूत्रात्मावायु जो धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधि कहाते हैं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका–सृष्टि रचना विषय)

प्रकार अथर्ववेद में भी प्रश्नों द्वारा सृष्टि रचना का वर्णन उपलब्ध होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि महर्षि दयानन्द वेदों में और उपनिषदों में प्रकृति को बतला कर इन ग्रन्थों को यथार्थवाद की शिक्षा पर ला खड़ा कर देते हैं। आचार्य शंकर ने तो उपनिषदों की प्रत्ययवादी (अद्वैतवादी) व्याख्या की है, उसमें एक कारण प्रतीत होता है आचार्य ने वेदों को न पढ़ पाया हो, इस में कारण यह दिया जा सकता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं पर वेदों का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। भला यह कैसे हो सकता है कि वे वेदों के पण्डित होते और उनका प्रमाण न देते। जो कुछ भी रहा हो परन्तु उपनिषदों की वही दार्शनिक व्याख्था समुचित हो सकती है जो वेदों की व्याख्या से भी सहमति रखती हो। क्यों कि हम पीछे सिद्ध कर आये हैं कि उपनिषदें वेदों को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है। स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त वेदों में प्रकृति के अनादित्व को डा० राधाकृष्णन् जैसे उदभट्ट विद्वान स्वीकार तो करते हैं, परन्तु उनकी यह स्वीकारोक्ति दबी भाषा में अवश्य है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वेदों में स्पष्ट रूप में यथार्थवाद का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार उपनिषदें भी वेदों के अनुसार यथार्थवाद का ही प्रतिपादन करती हैं।

---

1 Inx. 121 We have an account of the creation of the world by an omnipoent God out of pre-existent matter,
(Indian Philosophy V 1 P. 100 by RadhaKrishanan, Printed Indian Edition 1951.)

वैदिक दर्शन के पश्चात् भारतीय दार्शनिक परम्परा में अनेक दार्शनिक मतों की सृष्टि हुई है उसे प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

प्रश्न—त्रैतवाद आदि कुछ भी नहीं अपितु सर्वत्र हमें तो क्षणिता ही दिखलाई देती है। स्थाई सत्ता है ही नहीं अपितु जो भी सत् दिखाई देता है वह सब क्षणिक है[1] जैसे मेघ का आकाश में देखते है, कुछ क्षण बाद वह नहीं रहता इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्या जीव और संसार के दूसरे पदार्थ। हमें एक नियम दिखाई देता है कि व्यापक का निष्कासन करने से व्याप्य का भी निष्कान हो जाता है। अर्थात् व्यापक में नहीं रहने वाली वस्तुएँ व्यापक में भी नहीं रहती है। इसी नियम के आधार पर व्यापक पदार्थ से क्रम और अक्रम का निष्कासन अथवा व्यावृत्ति करने पर, क्षणिक होने वाली वस्तुओं का भी निष्कासन हो जाता है। अभिप्राय : यह है कि व्यापक से क्रम अक्रम को पृथक् करने से, जिस से सम्भवत: अक्षिणक वस्तुओं से सत्ता पृथक् हो जाती है। क्षणिक सत् है यह सिद्ध हो जाता हैं। क्योंकि अक्षणिक से सत् व्यावृत होता है। असत् क्षणिक की सत्तासिद्ध होती है।[2] क्रम तथा अक्रम के बीच तीसरा विकल्प सम्भव नहीं है।

---

१ व्यापक व्यावृत्या० व्याप्य० यावृत्तिरिति न्यायेन० व्यापक क्रमाक्रमवृत्ता अक्षणिकात् सत्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थी क्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तं। न च क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः सम्भवति (सर्वदर्शन स० क्षणिक प्रकरण)

२ यत् सत्—तत्क्षणिकम् यथा जलधरपटलम् (सर्वदर्शन० बौद्ध दर्शन) प्रकरण

क्योंकि क्रम और अक्रम परस्पर विरोधी हैं, दोनों के बीच में में तीसरा विकल्प सम्भव नहीं है। जो अर्थ क्रिया कारित्व का व्यापक कर सकें। किसी भी वस्तु को सत्ता या क्रमिक होगी अर्थात् आगे पीछे करें या अक्रमिक अर्थात् एक साथ। अतः जो अर्थमूल क्रिया की शक्ति है वह क्षणिक में निहित है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि यदि सत्ता कोई सत्ता स्थाई होती तो क्रम और अक्रम नहीं होता क्योंकि स्थाई होने पर क्रम और अक्रम का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः अस्थाई पदार्थों में ही क्रम और अक्रम हो सकते हैं। जैसे एक सौवर्ष पुराना वस्त्र, जो इस समय हमें जीर्ण शीर्ण दिखाई दे रहा है, क्या वह इस अवस्था में आज ही आया है? यह नहीं अपितु इसमें सौ वर्ष से प्रत्येक क्षण में परिवर्तन हो रहा था। यहां एक बात और द्रष्टव्य है कि स्थाई पदार्थ में अर्थ क्रिया भी नहीं हो सकती, क्योंकि यदि अस्थाई कारण बनकर अपनी सत्ता के नाश के अनन्तर कार्य उत्पन्न करें तो भी यह सम्भव है परन्तु यह सम्भव नहीं है, यदि स्थाई तो फिर नाश कैसे। अतः अर्थ क्रिया को स्थाई पदार्थ से पृथक् करके स्वयं भी क्रम और अक्रम स्थाई से पृथक रहता है, जिससे केवल क्षणिक वस्तुओं की ही सत्ता सिद्ध होती है।

एक बीज के दृष्टान्त द्वारा यह बात सहज ही समझ में आ जाती है। यदि बीज एक क्षण से अधिक स्थाई रहता है इसके प्रतिक्षण में कार्योत्पादन की शक्ति भी अवश्य रहनी चाहिए। क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि किसी की सत्ता भी रहे किन्तु उसमें कार्योत्पादन की शक्ति न हो अतः सत्ता के लिए क्रिया कारित्व आवश्यक है। जैसे बन्द बोरे में बीज क्यों नहीं पौधा उत्पन्न करता है। यहां पर यदि कोई यह कहें कि वहां पर जल मिट्टी यादि सहकारी कारण उत्पन्न होते हैं तभी वह शक्ति कार्य को उत्पादन करती है। अतः

बीज एक है। यह भी गलत है क्योंकि बीज के पूर्व रूप से अर्थात् उसमें जब मिट्टी जल आदि का संयोग नहीं रहता, पौधे की उत्पत्ति नहीं होती है। उसके फलस्वरूप से अर्थात् जब उसमें जब मिट्टी जल आदि का संयोग नहीं रहता, पौधे की उत्पत्ति नहीं रहती उसके पर रूप से अर्थात् जब उसमें मिट्टी जल आदि से कुछ परिवर्तन आता है तब भी उसमें पौधे की उत्पत्ति होती है। अतः बीज दोनों अवस्थाओं में एक सा नहीं रहता वरन् उसमें परिवर्तन हो जाता है। बस यह परिर्वतन शीलता एक बीज में हो नहीं अपितु समस्त संसार में है क्योंकि किसी वस्तु से प्रतिक्षण एक ही प्रकार की सम्भावना नहीं रहती है। इसी प्रकार आत्मा भी क्षणिक होगा क्योंकि प्रतीत्य समुत्पाद के कारण परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थाई द्रव्यों को नहीं माना जा सकता है। अतः स्थिर आत्मा को भी नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार बौद्धों के इस क्षणिक-वाद को ही मानना चाहिए क्योंकि कहा भी बौद्धों का भगवान बुद्ध ही पूजन योग्य है। जो जगत् को क्षण भंगुर मानते हैं[1] अतः क्षणिकवाद ही सिद्ध होता है न कि त्रैतवाद।

उत्तरः- यह क्षणिकवाद सर्वथा अनुचित है क्योंकि यदि क्षणिकवाद को माना जाय तो स्मरण नहीं बनेगा। हम देखते हैं कि कल या उससे पूर्व की घटना का हमें स्मरण हो जाता है। क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार तो जो हम कल थे आज नहीं है अतः यह वही देवदत्त है जो मैंने आज से पांच वर्ष पूर्व हरिद्वार में देखा था।

---

१ बौद्धानां सुगतोदेवो विश्वंचक्षण भंगुरम (विवेकविलास अष्टम विलास २६५ वांश्लोक अथवा सत्यार्थ प्रकाश द्वादश समुल्लास-पूर्ववक्ष)।

यह व्यवहार कैसा होता है।[1] जो पहले जलचर आदि के दृष्टान्त दिए हैं वे भी ठीक नहीं क्योंकि बौद्धों के अनुसार क्षणिकत्व है वह कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता है। बादल को हम देखते हैं तो स्थाई दिखाई देता है न कि क्षण-क्षण में बदला हुआ सा। क्योंकि बौद्धों के यहां क्षण का अभिप्राय: एक क्षण है न कि नैयायिकों के तीन क्षण नहीं हैं। बौद्धों का जो क्षण है उसे हम आंक नहीं सकते हैं जब हमारा दृष्टान्त हो अशुद्ध है तो अनुभव कैसे होगा।

कपास के बीज अवयवों में भी जो कार्य से सम्बद्ध होने योग्य है उस में लोह रस का सेचन होता है, उसी के फल निकलने तक सम्बन्ध होते है। लाली आ जाती है। परम्परा से कुछ होगा ही नही क्योंकि यह कैसे हो कि संस्कार कहीं और उसका फल कहीं दूसरी जगह यह कैसे सम्भव है। कारणवाली आतमा में कर्म हो और कार्य आतमा उस के फल का उपभोग करे, अत: क्षणिकवाद का सिद्धांत बिलकुल ही नहीं बनता है। सन्तान और परम्परा को तब तक मान्य नहीं किया जा सकता जब तक उसे परस्पर मिलाने वाली वस्तुऐं न हो अर्थात् सन्तानों को संयुक्त करने वाला न हो। अत: उन सन्तानों में एक ही व्यक्ति सिद्ध होता है।[2] यदि क्षणिकवाद को मानना चाहे तो

---

१ जो विश्वक्षण भंगुर हो तो चिरदृष्ट पदार्थ का यह वही है ऐसा स्मरण नहीं होना चाहिए। जो क्षण भंग हो तो वह पदार्थ ही नहीं रहता पुन: स्मरण किस का होवे जो क्षणिकवाद हो बौद्धों का मार्ग है तो इनका मोक्ष भी क्षण भंग होगा।
.....सत्यार्थ प्रकाश १२ समुल्लास प्रकरण बौद्ध खण्डन में देखो

२ सजातीया: क्रमोत्पन्ना: प्रत्यसन्ना: परस्परम्।
व्यक्तयस्तासु सन्तान: स चैक इति गीयते॥

(सर्व दर्शन स० जैन दर्शन)

अध्यापक और शिष्य में अध्ययन अध्यापन भी सम्भव नहीं। इस में एक दोष तो यह है कि दूसरे क्षण शिष्य और अध्यापक ही नहीं रहेंगे। दूसरे अति दोष आयेगा। इसी प्रकार किये गये कर्म का नाश तथा न किये गये कर्म को फल प्राप्त हो जायेगा। जो अध्यापक और शिष्य के उदाहरण से स्पष्ट है। एक दोष तो यह है कि किये गये का फल भोगना, तीसरा विश्व का विनाश चोथा मोक्ष का विनाश हो जायेगा क्योंकि आत्मा क्षणिक है तो मृत्यु के अनन्तर सुखी होने के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करेगा। स्मृति भंग दोष भी आ जायेगा जिस का वर्णन हम पूर्व ही कर आये है।1 ओह–कितना आश्चर्य है कि बौद्ध लोग एक ओर तो आत्मा को क्षणिक मानते है दूसरी ओर स्वर्ग की प्राप्ति के लिये चैतन्य को पूजा करते है, सभी संस्कार क्षणिक है, दूसरी ओर हजारों वर्ष तक रहने वाले विहारों का निर्माग हो रहा है। एक ओर सब कुछ शून्य है दूसरी ओर गुरु को धन देंने का आदेश भी मिल रहा है। देखो इन का सैद्धान्तिक पक्ष कैसा और व्यवहार कैसा है।2 यदि क्षणिकवाद को माना जाय तो ज्ञान के समय ज्ञेय पदार्थ की सत्ता नहीं रहेगी। ठीक इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ के समय ज्ञान के सत्ता नहीं रहेगी ज्ञेय पदार्थ कारण और ज्ञान कारण

---

१ कृतप्रणाशा कृतकर्मभोग भव प्रमोक्ष स्मृति भगं दोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षण भंगमिच्छ न्नहो महासाहसिकः परोऽसौ॥
(वी० स्तु० १८)

२ नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथच स्वर्गाय चैत्यार्चन,
संस्काराः क्षणिकाः युगस्थितिभृश्चते विहाराः कृताः।
सर्वशून्यमिद वसूनि गुरवेदेहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरित किमन्यदियतो दम्भस्य भूमि परा॥
(न्यायमञ्जरी पृष्ठ ३९)

पहले ज्ञेय हो तब ज्ञान। क्षणिकवाद के अनुसार दोनों र
नहीं सकते क्योंकि पूर्वापर के क्रम से होते है। अतः इसी प्रका
में कोई ग्राहक रहेगा न कोई गाह्य। इस प्रकार क्षणिकवा
नहीं बन सकता है।

प्रश्न :–क्षणिक पदार्थ ज्ञान पर अपने आकार की छाप छोड़ेगा।
उत्तर:–यह कहना ही नहीं बनता क्योंकि जिस पर छाप पड़ेगा व
है ही नहीं। अत: प्राह्य ग्राहक नहीं बनेगा।

प्रश्न :–यदि क्षणिकवाद का खण्डन हो गया तो शून्यवाद तो ठीक
हैं क्योंकि संसार का मूल कारण शून्य ही है। पूर्व भी शून्य था
आगे भी शून्य बन जायेगा। हम देख सकते हैं कि एक का अस्तित्व
दूसरे पर आश्रित है। अभिप्राय: यह कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान,
एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। यदि इनमें से एक असत् होगा त
शेष दोनों भी असत् होंगे, जब हम किसी रज्जु को सर्प समझते
तो वहां उसका अस्तित्व बिलकुल असत् है। यदि सर्पही असत्य है त
ज्ञाता भी असत्य है। अतः इस उदाहरण द्वारा यह प्रतीत होत
स्वप्न जगत की तरह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी असत् हैं। इ
प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि आम्यन्तर या बाह
किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। सब कुछ शून्य ही है। शून्
का अर्थ सत्, असत्, सदसत् और असन्नासत् ये भी लक्षण किय
जाता है, जो अनिर्वचनीय है। व्यवहारिक वस्तुएं सभी असत् य
शून्य हैं। किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में ऐसी सत्ता है जो अनौपाधिक औ
अविकृत है।१–कुछ इनके ही दार्शनिक बाह्य वस्तुओं को शून्य मान
हैं परन्तु चित्त जो सभी पदार्थों को बतलाने वाला है उसको शून्य नह
मानते हैं। उनका कहना है कि मानसिक धारणा में ही बाह
पदाथों के रूप में भ्रमवश, दृष्टिगोचर होते हैं। अर्थात् विषय नह

हैं अपितु विषयी ही अपनी तत् सम्बन्धित धारणाओं को आरोपित करता है। पाश्चात्य दर्शन में बेर्कले भी बाह्य पदार्थों का आश्रित्व नहीं मानता है। इसके अनुसार सत्ता अनुभव मूलक है।

उत्तर :–यह शून्यवाद भी ठीक नहीं है क्योंकि बाहर के पदार्थ में सत् अर्थात् वे अपनी सत्ता रखते हैं और अन्य मन चेतन आदि भी अपनी सत्ता रखते हैं। संसार स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। जगत की सभी वस्तुएं अपनी-अपनी सत्ता रखती है। उनमें शून्यता का भाव लेशमात्र भी नहीं हैं। हम देखते हैं कि कार्य कारण का नियम कर रहा है। इस नियम के अनुसार सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। असत् कारण से कोई भी सत्ताधारी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। कहा कि असत् सर्प से सत् सर्प की उत्पत्ति देखी जाती है सो यह ठीक नहीं है क्योंकि वहां प्रतीति काल अर्थात् हमें जब तक यह पता नहीं चलता कि यह सत् नहीं है अपितु रस्सी है तब तक सत् कारण से सत् कार्य की ही उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाय कि भ्रान्ति दूर होने पर तो नहीं, परन्तु यह आपका उदाहरण भी तो भ्रम स्थल का ही है।

जाग्रत और भ्रम रहित स्थल वाले दृष्टान्त सब सत् कार्य को उत्पत्ति वाले हैं। हमें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो गुण कारण में हैं वे गुण कार्य में भी किसी न किसी रूप में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के रूप में तिल से ही तेल की उत्पत्ति होती है, बालू से तेल की नहीं। असत् से सत् की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती जिस प्रकार मनुष्य के सींग असत् है इसी ही प्रकार असत्

न सन्नासनन सदसन्न चाप्यनुभात्कम्।
चतुष्काटो विनिपुक्तिं तत्त्वं विनिमिक्तं भाध्यमिकार बिदु: ॥

से सत् की भी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती ।[1] इसी प्रकार जब स
शून्य ही है तो ये गगनचुम्बी पर्वतमालाऐं, ये शान्त और गम्भी
समुद्र, गहरी खाइयां और यह विचित्र जगत कैसे उत्पन्न हो सक
है ।

शून्यवादी से पूछना चाहिए कि जिस शून्य पर तुम विचार क
रहे हो, वह तुम विचार करते तो शून्य नहीं हो सकते । फिर शू
कहां रहा ।[2] इस प्रकार एक तो शून्य दूसरा उसका ज्ञाता, अ
ज्ञाता ओर ज्ञेय अपने आप सिद्ध हो जाते हैं । जब ये दोनों सिद्ध
तो ज्ञान अपने आप सिद्ध हो जाता है । जो योगाचार आदि बाह
शून्य तत्व मानते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे बाहर पहाड़ है,
अन्दर किस प्रकार हो सकते हैं । यदि आप माने तो भी उत
स्थान हृदय मैं नहीं हो सकता है ।[3] यही मानना समीचीन है।
पर्वत की सत्ता बाहर है उसका ज्ञान आत्मा में है ।[4]

इसी प्रकार जो लोग पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानते है उन
अपना वचन भी अनुमेय ही मानना होगा । हम जो यह प्रयोग क

---

१ नासतः ख्यानं नृशृंगवत ।

२ शून्य आकाश, अदृश्य आकाश और बिन्दु को भी कहते है ।
शून्य का जानने वाला शून्य कभी नहीं होता है ॥
सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास आठ, प्रकरण नास्तिक

३ जो सब शून्य हो तो शून्य का जानने वाला शून्य नहीं हो सक
और जो सब शून्य हो, तो शून्य को जान नहीं सकते इसलिये शू
का ज्ञाता ज्ञेय दो प्रकार सिद्ध होते हैं, और जो योगाचार बा
यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होने चाहिये……
अवकाश कहां
सत्यार्थ प्रकाश १२ समुल्लास

४ इसलिये बाहर पर्वत है और पर्वत का ज्ञान आत्मा रहता है।
सत्यार्थप्रकाश, १२ समुल्लास

है ये घड़ा अथवा यह घड़े का एक देश इन सब का प्रयोग भी नहीं बन सकता है। यह घड़ा है, यह अनुमान से नहीं परन्तु प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है क्योंकि सब अवयवों में एक अवयवी रहता है, उसके प्रत्यक्ष होने से घट के सब अवयव भी प्रत्यक्ष होते हैं, इस प्रकार सावयव घट प्रत्यक्ष होता है।[1]

शून्यवादी जो कहता है कि ज्ञाता, ज्ञेय और तीनों ही शून्य है इसका खण्डन हो गया। शून्यवाद द्वारा संसार की रचना सम्भव नहीं है। अतः त्रैतवाद द्वारा इस समस्या का समाधान हो सकता है। क्योंकि कारण तीन होते हैं।

प्रश्न :—अनैकान्तवाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। हमें छोड़कर सभी लोग एकान्तवादी हैं। किसी वस्तु का ज्ञान हमें पूरा नहीं हो सकता है। उसके जानने के कई पक्ष होते हैं। उन सब पक्षों को एक साथ जानना बड़ा ही दुष्कर है। साधारण ज्ञान हम नहीं कर सकते हैं। हम किसी पक्ष विशिष्ट को ही जान सकते हैं, वहीं तक उस की सत्यता भी माननी चाहिये सर्व तो भावेन सत्य नहीं हैं। सभी दार्शनिक ज्ञान की इस सीमा का ध्यान नहीं रखते हैं कि अल्पज्ञ जीव किसी वस्तु के सभी पक्षों को कैसे जान सकता है। जैसे हम कहते हैं कि घड़ा है यह एक पक्ष से देशकाल गुण आदि का विचार करके हम घट की सत्ता मानते हैं। इसमें नहीं पक्ष भी है। जैसे उस देशकाल आदि को दृष्टि से घड़ा नहीं है। अतः यही सिद्ध सिद्धान्त है कि अनैकान्तवाद अर्थात्, स्याद्वाद मानना उत्तम है। किसी भी वस्तु की सत्ता या दूसरी

---

१ देखो सत्यार्थ प्रकाश १२ वा० समुल्लास बौद्ध प्रकरण।

बात के कहने में हमें (स्याद् शब्द का) प्रयोग करना चाहिये जैसे हम कहते हैं कि काला कपड़ा यहां उसमें सफेदपना नहीं है। अतः सम्भावना का प्रयोग करना ही सर्वथा उचित है। वास्तव में अन्य सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शनों के सिद्धान्तों को ऐसे ही वर्णन करने के समान है जैसे किसी ने कहा है कि कुछ अन्धे थे वे हाथी को छूकर देख रहें थे। एक ने कहा कि हाथी तो स्तम्भ के समान है, दूसरे ने कहा छाज के समान और तीसरे ने कहा दिवार के समान, सभी ने जैसा-जैसा छूआ वैसा कहा। अतः वे सभी अधूरे हैं। सभी का बताया हुआ हाथी सम्पूर्ण हाथी है। किसी एक का नहीं। इसी प्रकार कोई द्रव्य पदार्थ भी पक्षों पर विचार करने से होगा। हमारा सप्त-भंग न्याय सब को मानना चाहिये। प्रत्येक वस्तु स्यात् है,[1] स्यात् नहीं,[2] स्यात् है और नहीं भी है[3] स्यात् अवक्तव्य है,[4] स्यात् है और अवक्तव्य भी है[5] स्यात् नहीं है अवक्तत्व्य भी है[6] और स्यात् है, नहीं अवक्तव्य भी है[7] सब के समुच्चय से सप्त भंग कहलाता है।[8] इस को हम दूसरी प्रकार कह सकते है कि जैसे जीव चेतन होने से है अर्थात् वह भाव रूप है। यह प्रथम भंग हुआ। जीव जड़ नहीं है यह दूसरा भंग। इसी प्रकार सातो भंग होते है। अतः चित् और अचित् दो तत्व है।

---

१ स्याद्–अस्ति २–स्याद् नास्ति ३–स्यात्–अस्ति् नास्ति च।

४ स्याद्– अवक्तव्यम् ५–स्यात् अस्तिच अववतव्यचं ६–स्याद नास्तिच अवक्तव्यच।

७ स्यात्–अस्तिच अवक्त्व्यंच ८–तद्विधान विवक्षया स्यादस्ति इति गति भवत ……समुच्चययेन युक्तस्च सप्तम भंग उच्यते।
(सर्व दर्शन संग्रह जैन दर्शन)

उत्तर—किसी भी वस्तु में एक ही प्रकार की पारमार्थिक सत्ता हो सकती है। उस सत्ता के अन्दर, असत्ता नहीं रह नहीं सकती है। परस्पर विरोधी धर्म एक ही वस्तु में नहीं हो सकते है। इस प्रकार जो पारमार्थिक सत्ता है उस असत्ता आदि का समावेश किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। क्योंकि विकल्प क्रिया का तो हो सकता है परन्तु वस्तु का नहीं। वस्तुतः जैनियों का यह सिद्धान्त अन्योऽन्या भाव साधर्म्य और वैधर्म्य में एक बात है, यह मानने के समान है। हम यह देखते हैं कि जीव में अजीव और अजीव में जीव का अभाव होता है। जो जीव में चेतन्यत्व और अजीव में जड़त्व। एक ही धर्मों में एक सत् और असत् विरोधी धर्मों का समावेश नहीं हो सकता है। यह सात स्यात् है, स्यात् नहीं है, आदि।

सप्त भंग नय है ये ऐसे ही है जैसे शीतत्व और उष्णतत्व एक ही समय एक ही वस्तु में एक स्थान पर रहें। वे वैसे ही वा नहीं भी है। या और प्रकार से है, इस प्रकार से अनिश्चत् ज्ञान संशय ज्ञान के समान अप्रमाण ही है स्याद्वाद के मानने पर प्रत्येक वस्तु का

---

९ यह कथन (स्याद् वाद) एक अन यऽन्योभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल का प्रकरण छोड़ कर कठिन जाल रचना केवल······होता है। जीव का अजीव और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ के वर्तमान होने से साधर्म्य और चेतन तथा जड़ होने वैधर्म्य अर्थात् जीव में चेतनत्व और जडत्व नहीं है इसी प्रकार जड़ में जडत्व और चेतनत्व नहीं है। इस से गुण कर्म स्वभाव के समान धर्म इतना प्रपंच बढ़ाना किस काम का।

(सत्यार्थ प्रकाश प्र० १२ समुल्लास)

लक्षण, स्वरूप अनिश्चत संशयरूप ही रहेगा।[1]

हमने देखा कि युक्तियों और तर्कों के आधार पर भी अनैकान्त वाद टिक नहीं सकता है। यदि इस स्याद्वाद को माना जाये तो प्रत्येक व्यक्ति हर समय में संशयवादी ही बना रहेगा। इनसे कोई पूछे कि क्या तीर्थंकर जब उपदेश देता था उस सयम भी ये इस स्याद् शब्द का प्रयोग करते हैं, कि यह उपदेश शायद ठीक है, शायद नहीं। यदि ये बुद्धि बनी रहेगी कि में इस बतलाये गये अनुष्ठान आदि आदि कर्मों में प्रवृत हूं या नहीं। स्यात् मोक्ष है स्यात् नहीं। भला बतलाइये यदि ये मान्यता हो तो कौन उधर प्रवृत होगा।

हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार एक ही वस्तु का एक साथ छोटा और बड़ा दोनों रूप रह सकता है।[2] उसी प्रकार संसार को अनैकान्त मान ले। अभिप्राय: यह है कि जैसे द्वयणुक में ह्रस्त्व और दीर्घत्व दोनों है उस प्रकार जगत सत् और असत् है यह मानना ठीक नहीं है द्वयणुक का छोटा बड़ा होना सापेक्ष है किसी भिन्न प्रतियोगी कि अपेक्षा रखता है जैसे चतुरणुक और द्वय णुक। चतुरणुक की अपेक्षा वह छोटा है, द्वयणुक की अपेक्षा बड़ा है परन्तु सत् असत् मानने में यह बात नहीं घटती है। वहां प्रतियोगी नहीं जिसमें सत् असत् कह सकें। क्योंकि वहां किस की अपेक्षा से कहेगें। ह्रस्त्व और दीर्घत्व उतने विरोधी नहीं है जितने की सत् और असत् को एक ही वस्तु में एक ही साथ स्थित कहना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अन्य भंगों का खण्डन भी स्पष्ट

---

१ नैकस्मिन् सम्भवात् (वेदान्तदर्शन २.२.३२)

२ नैचैकस्य ह्रस्वत्वदीघ······ जगत् स्यादिति वाच्यम्

(सर्वदर्शनसंग्रहरामानुज दर्शन)

रूप से हमें दिखाई देता है। अब हमें यह भी विचारना चाहिये कि क जो इन सारे प्रपचों की जड़ सप्त भंगीनय है, वह स्वयं एकान्त है या अनैकान्त यदि प्रथम विकल्प माना जाये तो सब कुछ अनैका-कान्त है, इस प्रतिज्ञा का ही विरोध होता है। यदि यह निश्चित स्वरूप वाला है तो फिर किस तरह से सब चीजों को अनैकान्त मानेगें क्या सप्त भंगीनय सब के अन्तर्गत नहीं है। यदि दूसरा विकल्प मानते हैं तो इष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि अनैकान्त हो जाने से सप्त भंगी प्रमाणिक नहीं हो सकता। अर्थात् किसी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त उनके यहां तत्वों की सख्या नौ या सात मानी गई है। इस प्रकार निर्धारण करना फल है। और निर्धारण करसे वाला प्रमाता है। उसके निर्धारण का प्रमाण है और यह तत्व स्वयं प्रमेय है। यदि इन सब स्वरूप निश्चित माने तो सब कुछ अनैकान्त है कि प्रतिज्ञा कहां रही यदि इन का स्वरूप अनिश्चित है तो इतने बड़े प्रपंच की क्या आवश्यकता है। यह उपहासनीय वार्ता है कि इतने तत्व, प्रमाण प्रमाता और फल आदि का वर्णन करके कहते हैं कि यह सब कुछ अनैकान्त है। अतः अनैकान्तवाद ही स्वयं अपनी जड़ स्वयं खोद देता।

प्रश्न :— यह ठीक है कि है कि अनैकान्तवाद से सृष्टि कैसे रची इसका कौन रचने वाला है? इसमें कोन रहता है? इत्यादि समस्या का समाधान हो जाता है। संसार में एक तत्व है जिसकी पारमार्थिक सता है। है, वह है ब्रह्म। अद्वैतवाद में सबसे अधिक विशेषता यह कि इसके अंगीकार करने के अनन्तर एक तत्व ही सृष्टि रचना करता है। अतः इसके स्वीकार करने के पश्चात् आप द्वारा मान्य तीन कारणों की आवश्यकता नहीं है केवल ब्रह्म इस संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। आप कहेंगे कि

यह ठीक नहीं क्योंकि कारण एक से उत्पन्न वस्तु दिखाई दे
चाहिए। सो इस का उत्तर यह है कि क्या जब हम दूर से कु
अन्धकार और प्रकाश में रस्सी में हमें सर्प की उत्पत्ति हो जाती है
वहां पर केवल रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है
यदि कहो कि वहां तो सर्प, रस्सी वस्तुतः नहीं अपितु आरोपित स
की उत्पत्ति होती है तो इस में दोष क्या है ? यह संसार भी ब्रह्म
आरोपित है। अतः संसार मिथ्या है।

सत्तायें तीन प्रकार की होती है। एक वह जिसका ती
कालों में बाध न हो[1] वह सत्। दूसरी जिसका उत्तर काल में
बाध हो जाये, परन्तु वर्तमान में ही उसे असत् नहीं कह सक
परन्तु वर्तमान काल में तो है इस प्रातितिक सत्ता (प्राति भासिक
कहते हैं। क्योंकि यदि संसार को सत् मान लिया जाये तो फिर
तिरोहित कैसे हो जाता है। अतः संसार असत् नहीं परन्तु
मिथ्या है। यदि संसार की तुलना हमें स्वप्न के पदार्थ या भ्रम
कर लेवें तो संसार आगे तिरोहित हो जाता, है इस समस्या
समाधान हो जाता है। यह संसार और जीव मिथ्या है।

उत्तर– यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। अच्छा बतलाओ
तुम्हारे मत में मिथ्या अथवा झूठा किसे कहते हैं।

पूर्व पक्ष वस्तु की सत्ता तो नहीं परन्तु केवल प्रतीत
जैसे सर्प होता तो नहीं परन्तु रज्जु में उसकी प्रतीत हो
होती है।

---

१ त्रिकालाबाधितं सत्।

उत्तर पक्ष– जो वस्तु नहीं होती है उसकी प्रतीति ही सम्भव है। तुम्हारा ऊपर वाला उदाहरण भी ठीक नहीं क्योंकि सर्प वहां भले न हो परन्तु अन्यत्र तो होता ही है।

पूर्व :– क्यों नहीं अध्यास द्वारा, यह प्रितीति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है इसके अनेकों उदाहरण देखने में आते हैं।

उत्तर :–अच्छा आप बतलाइये आप के मत में अध्यास किसे कहते हैं ?

पूर्व :– किसी दूसरे पदार्थ में अन्य पदार्थ को आरोपित करना अध्यास कहलाता है।[1] जब हम अध्यारोप का निराकरण करते हैं तो वही अपवाद कहलाता है। ब्रह्म इन दोनों से पृथक् अर्थात् ब्रह्म प्रपंच से भिन्न है।

उत्तर :– यह आप का सिद्धान्त अनुचित है क्योंकि जो यह मानते हों कि सर्प वस्तु नहीं है। यदि यह कहा कि वह वहां तो नहीं है सो भी ठीक नहीं क्यों अन्यत्र सर्प के संस्कार हमारे हृदय में तो है। वास्तविक सर्प दूसरे स्थान पर है ही। इसी रज्जू में सर्प शुक्तिता में रजत और स्थाणु में पुरुष इन स्क्षलों पर भी समझ लेना चाहिए।

पूर्व :– स्वप्न में हमें जो पदार्थ दिखाई देते हैं, वे तो सब झूठे ही हैं। उसी प्रकार इस जगत को समझना चाहिए।

उत्तर :– स्वप्न में भी वहीं पदार्थ हमें दिखाई देते हैं जिनको जागृत अवस्था में देखा अथवा सुना है।

---

१ वस्तुन्यवस्तवारोपणमध्यासः अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

पूर्व :– यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसे भी स्वप्न आते है जिन
जागृत अवस्था में देखा नहीं होता है। जैसे अपने कंधे पर
चढ़ना। अपना सिर कटा और स्वयं रोता हुआ दिखाई देता
इसी प्रकार जल की धारा भी ऊपर को जाती दिखाई दे जाती है

उत्तर :– हम देखते है कि लड़ाई में सिर कटा, बन्धु-बा
को रोता देखा फव्वारे से जल भी ऊपर जाते देखा। इन सब
संस्कार हमारे हृदय में रहते है उन की स्मृति भी बनी रहती
स्वप्न अवस्था में सब बातें मनुष्य अपने में ही देख लेता है। यहां
ये सब अवस्तु नहीं अपितु सभी कुछ देखा या सुना हुआ है। इ
अवश्य है कि स्वप्न जैसा देखा या सुना है वह यह आवश्यक नहीं
सब नियमपूर्वक हों, अनियम से हो जाता है। जैसे हम कभी-
पूर्व दृष्ट या श्रुत को अपने हृदय से निकाल कर कागज में लि
चाहते है तो वैसा ही नहीं लिख पाते है जैसी वह वस्तु देखी
सुनी भी। जैसा देवदत्त को मैंने आज से दस वर्ष पूर्व देखा आज
देख रहा हूं परन्तु उस को मैं पहचान नहीं पा रहा हैं क्योंकि स्
कुछ धुन्धली पड़ गई है इसी प्रकार स्वप्न में भी होता है, वहां अ
स्मृतियां हृदय पटल पर अंकित होती है, सबका सम्मिश्रण हो जा
है। एक दूसरे पर उनका प्रभाव पड़ता है। यदि ऐसा न हों
चक्षुहीन जो जन्म से ही अन्धा है उसका रूप स्वप्न में कभी भी न
आता है। अतः इससे सिद्ध है कि स्वप्न में भी दिखाई देने वा
वस्तुऐं अवस्तु नहीं हैं।

पूर्व :– अध्यस्त के लिए अधिष्ठान की भी आवश्यकता हो
है जैसे रज्जु न हो तो सर्प की भी प्रतीति नहीं हो सकती है। र
में सर्प की उपस्थिति तीनकाल में भी नहीं है। जब अन्धेरे में
दिखाई देता है तो दीपक के आने पर सर्प की भ्रान्ति प्रकाश

कारण समाप्त हो जाती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान के होने संसार मिथ्या है इसका ज्ञान हो जाता है। पूर्ण रूप से ब्रह्म ज्ञान हो जाता है अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। जैसे रज्जु के दीखने पर सर्प का ज्ञान नहीं रहता है।

उत्तर :– अच्छा यह बतलाओ कि यह भ्रम अवस्था अज्ञान किस-किस को हुआ। पूर्व–जीव को। उत्तर :– तुम तो ब्रह्म को छोड़कर किसी को मानते ही नहीं। अच्छा बतलाओ जीव को अज्ञान किस से हुआ ? पूर्व–अज्ञान से। उत्तर–अज्ञान कहां से आया शौर उसका रहने का स्थान कहां है ? पूर्व–अज्ञान अर्थात् अविद्या अनादि है और वह ब्रह्म में रहता है। उत्तर–क्या आप के ब्रह्म भी अज्ञानी है ? अच्छा बतलाओं ब्रह्म में अज्ञान ब्रह्म का ही है या किसी ओर का, वह अज्ञान हुआ किस को पूर्व–चिदाभास उत्तर–चिदाभास का क्या स्वरूप है ? पूर्व–ब्रह्म। ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को भूलकर वह ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि बन जाता है।

उत्तर :– उस के भूलने का कारण क्या है ? पूर्व–अविद्या उत्तर—अविद्या क्या सर्वव्यापी का गुण ? अथवा अल्पज्ञ का ? पूर्व अल्पज्ञ का। उत्तर आप के मत में तो अल्पज्ञ है ही नहीं फिर यह कहां से आया यदि ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में अज्ञान मानोगे तो वह अज्ञानी हो जायेगा और उस अज्ञान का प्रभाव सर्वत्र हो जायेगा। जिस से ब्रह्म विकारी हो जायेगा। ब्रह्म के प्रदेश भी नहीं हो सकते। और नहीं ब्रह्म के किसी भाग में अज्ञान ठहर सकता है पूर्व–यह सब उनका ब्रह्म का धर्म है। जो औपाधिक है। अतः केवल यह उपाधिका धर्म है ब्रह्म का नहीं है उत्तर :– वह उपाधि जड़ है अथवा चेतन, सत्य है अथवा असत्य है। पूर्व अनिर्वचनीय है। उसे हम जड़, चेतन, सत्य और असत्य कुछ भी नहीं कह सकते है। उत्तर :– यह कहना

ठीक नहीं क्योंकि यह कथन आपका स्वयं अपनी बात का खण्
करता है।[1] यह कैसे हो कि अविद्या का कोई स्वरूप ही नहं
यह तो ऐसे ही हुआ कि जैसे किसी स्वर्णकार के निकट हम दो धा
मिलाकर जाय और पूछें कि यह क्या है ? किन्तु वह यहीं तो कहे
कि इस में दो धातुएं मिली हुई है। पूर्व—जैसे घटाकाश मठाकाश आ
में घट और मठ के होने से पृथक्-पृथक् होते है वस्तुतः तो
महदाकाशी ही है ऐसी ही माया और अविद्या से युक्त होकर ब्र
अन्तःकरण की उपाधियों से हमें अलग नजर आता है
वास्तव में ब्रह्म एक ही है। जैसे-जैसे अग्नि को हम देखते हैं, छो
चौड़े और लम्बे इत्यादि सब आकृति वाले पदार्थों में व्यापक हो
तदाकार दिखता है, वैसे उनसे पृथक है वैसे ही ब्रह्म एक है पर
वह अन्तकरणों में तदाकार होकर दिखाई दे रहा है। वैसे वह
ही है।[1] उत्तर :– यह भी कहना व्यर्थ है क्योंकि जैसे घट, मठ अ
मेघ अलग-अलग है कारण कार्य रूप जगत को और जीव तथा ब्र
को पृथक-पृथक क्यों न माना जाये पूर्व :– ऐसा मानना ठीक न
क्योंकि ब्रह्म जड़ अथवा चेतन में व्यापक होकर आकार युक्त दिख
देता है जैसे हजारों पानी के कूण्डो में सूर्य अलग-अलग दिखाई दे
है जिसके अनेकों प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। वस्तुतः सूर्य एक
कूण्डों के नष्ट होने पर वे प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाते हैं उसी प्रक
जो अन्तःकरणों में ब्रह्म का अभाव, जिसे चिदाभास भी कहा जा

---

१ वदतोव्याघात् यह विवाद सत्यार्थ के एकादश समुल्लास में शां
मत समीक्षा मे है। उस का यहां टिप्पणी में देना बड़ा कठि
क्योंकि, यह विस्तार पूर्वक है ऊपर उस के अनुसार ही लि
गया है।

है यह नभी तक है जब तक की अन्तःकरण है। जब अन्तकरण समाप्त हो जायेंगे तो ब्रह्म अकेला ही रह जाता है। जब तक वह अन्तःकरण रहता है तभी तक वह अपने को सुखी दुखी : पापी, भूखा प्यासा समझता है वह ऐसा अपने में आरोपित कर लेता है। जब तक उसे ज्ञान नहीं होता है। उत्तर :- यहउदाहरण अशुद्ध है क्योंकि सूर्य आकार वाला तथा कुण्डे भी आकार वाले हैं। सूर्य जल से भिन्न है, जल सूर्य से भिन्न है तभी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। प्रतिबिम्ब तभी सम्भव है जब कि एक वह पदार्थ जिसका वह प्रतिबिम्ब पड़ रह रहा हो। परन्तु यहां ब्रह्म निराकार है उसका प्रतिबिम्ब बन ही नहीं सकता है। ब्रह्म सर्वव्यापक है उस का अलग दिखाई देना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि सभी पदार्थ ब्रह्म में ही तो है उन का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है अतः वे एक भी नहीं हो सकते है। अन्वय व्यतिरेक से देखने में तो एक दिखाई देते है परन्तु वास्तव में वे पृथक् पृथक् दिखाई देते है। देखिए अन्तःकरण चलायमान है परन्तु ब्रह्म अचल है। यदि ब्रह्म को जीव से भिन्न न माना जायेगा तो जहां-जहां अन्तःकरण जायेगा वहां-वहां का ब्रह्म अज्ञानी। जहां-जहां से वह अन्तःकरण चला जायेगा वहां-वहां का ब्रह्म ज्ञानी हो जायेगा। जैसे हम छाता लेकर चलते हैं। वहां-वहां छाया, दूसरे स्थानों पर प्रकाश रहता है। इसी प्रकार अन्तःकरण ब्रह्म को ज्ञानी और अज्ञानी और मुक्त प्रतिदिन करता रहेगा। ब्रह्म के किसी देश में अज्ञान रहने से ब्रह्म का वह प्रदेश अज्ञान से युक्त हो जायेगा इसो प्रकार यदि आपके इस सूर्य और जलकुण्डों के दृष्टान्त

---

१ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूप प्रतिरूप बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
कठ० वल्ली ५। मं ९।

को स्वीकार कर लिया जाये, तो जैसा आप ब्रह्म मानते हैं वैसा ब्र
ही नहीं रह जायेगा क्योंकि ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाल
है अन्तःकरण आदि के आवरण से ब्रह्म अज्ञानी दोष युक्त बद्ध औ
अखण्ड से खण्ड-खण्ड हो जायेगा। पूर्व पक्ष—ब्रह्म न सर्वज्ञ है और
अल्पज्ञ है क्योंकि सर्वज्ञता और अल्पज्ञता उपाधि सहित वाले पदार्थ
में होते हैं। उत्तर—उपाधि सहित कौन है ? पूर्व०— ब्रह्म। उत्तर—त
तो ब्रह्म ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हुआ। यदि कहो कि उपाधि कल्पि
अथवा मिथ्या है तो कल्पना करने वाला कौन है। जीव है अथवा
ब्रह्म ? या कोई अन्य। पूर्व०—ब्रह्म। उत्तर—जो ब्रह्म स्वरूप है वह
मिथ्या कल्पना नहीं कर सकता। जो मिथ्या कल्पना कर सकता है
वह ब्रह्म ही नहीं हो सकता। तुम जो यह मानते हो कि ब्रह्म ही सत्य
है यह स्थापना खण्डित हो जाती है। पूर्व०—हम सत्य और असत्य को
भूठ मानते हैं। वाणी से बोलने को भी मिथ्या मानते हैं। उत्तर०-
जब आप भूठ कहने और मानने वाले हो तो तुम स्वयं भूठे हो गये।
इस प्रकार तुम्हारा सिद्धान्त भी भूठा हो गया। पूर्व० सत्य और भूठ
ये हमारे ही कल्पित हैं। हम दोनों के साक्षी अधिष्ठान हैं। उत्तर—जो
तुम सत्य और भूठ के आधार हो तो तुम धनी और चोर सदृश हुए
ऐसा व्यक्ति कभी प्रामाणिक नहीं हो सकता है। ब्रह्म संसार के प्रपंच
को फैलाता है उस समय माया जो कि ब्रह्म का आश्रय है ब्रह्म को
ही आच्छादित कर लेती है। उत्तर—माया सत् या असत् है। पूर्व०
माया अनिर्वचनीय है। उत्तर—संसार में हम देखते हैं कि कोई वस्तु
या तो सत् होगी या असत्। सत् और असत् दोनों एक स्थान पर नहीं
रह सकते। इसलिये माया अथवा अविद्या में अग्निर्वचनीत्वानुपपत्ति
नामक दोष आ जाता है। अतः संसार में सत् अथवा असत् ये दो
प्रकार की ही वस्तुएं हैं इससे भिन्न नहीं। अविद्या का स्वरूप जो
कल्पित किया है वह भी ठीक नहीं—क्योंकि तुम मानते हो कि विषय

शून्य और आश्रय शून्य अनुभूति मानते ही ये दोनों दोष नहीं बन सकते, क्योंकि दोष या पारमार्थिक हो सकते हैं या अपारमारर्थिक। यदि पारमार्थिक माना जाये तो ब्रह्म के दोष भी पारमार्थिक हो जायेंगे। यदि अपारमार्थिक माना जाये तो यह जो अनुभूति द्रष्टा, दृश्य बन जाता है तो यहां पर इसके मूल में भी दोष मानना पड़ेगा इस प्रकार दोष की अनन्त कल्पना से अनवस्था दोष आ जायेगा। अत: अविद्या का स्वरूप हो नहीं सकता। जिसका स्वरूप ही नहीं बनता उसकी कल्पना ही व्यर्थ है। अविद्या प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं होती। अविद्या प्रत्यक्ष प्रमाण से तो सिद्ध है ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष में तो हमें जीव और प्रकृति को सत्ता स्पष्ट रूप से दिखलायी ही देती है। पूर्व० परमार्थ रूप से प्रत्यक्ष तो सब मिथ्या है क्योंकि प्रत्यक्ष भी अविद्या वत् है।[1] उत्तर० यदि प्रत्यक्ष भी मिथ्या है तो संसार में कौई प्रमाण ही नहीं रहेगा। प्रत्यक्ष को मिथ्या कहने वाले की बात स्वयं मिथ्या है क्योंकि मेरे सामने देवदत्त खड़ा है। में यह कैसे कह सकता हूं कि मुझे देवदत्त प्रत्यक्ष नहीं हो रहा। तुम जो सर्प रज्जु के दृष्टांत देते हो वह भी तो प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान नहीं बन सकता और प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं तो शब्द प्रमाण भी नहीं ठहरता। हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष ही कारण और कार्य का अनन्यत्व बताता है जैसे–तन्तु स्थानीय कपड़े में वस्त्रनामी कार्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है तानाबाना किए हुए तन्तु ही प्रत्यक्ष दीखते हैं और तन्तुओं में उनके अंश और उन अंशों में उनके अवयव। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से ही अनुमान किया जाता है। क्या तुम ब्रह्म को अभिन्न निमितोपादान कारण सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष और अनु-

---

१ अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

मान का आश्रय नहीं लेते हो ? तुम्हारी सभी युक्तियां प्रत्यक्ष और अनुमान पर ही आधारित है। आप लोग अज्ञान को भावरूप मानते हो जो कि ठीक नहीं है। क्योंकि अनुमान से भी ऐसा सिद्ध नहीं होता है।

पूर्व०— अनुमान से अज्ञान भावरूप बन सकता है क्योंकि अविद्या को प्रमाणित करने वाला ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के अनन्तर होता। जो वस्तु ज्ञान के प्रागभाव से बिल्कुल भिन्न ज्ञान के विषयों को ढकने वाली, ज्ञान के द्वारा हटने वाली तथा ज्ञान के स्थान में अवस्थित अथवा बनी रहती है। (साध्य) दूसरा यह है कि प्रमाण ज्ञान अप्रकाशित वस्तुओं को प्रकाशित करता है। (हेतु) जिस प्रकार अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न होने वाली दीप की प्रभा होती है। यहां पर हल देखते हैं कि प्रमाण ज्ञान का विषय ब्रह्मादि हैं उसके स्वरूप को ढकने वाला प्रमाण ज्ञान का देश आत्मा है उसी में अवस्थित रहने वाला वह प्रमाण ज्ञान के प्रागभाव से भिन्न है। इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि जो दीप प्रथम प्रकाश की किरणों को फैलाता है। उसी में अन्धकार भी नष्ट करने की शक्ति होती है। जब हम प्रथम बार दीप को कमरे में जलाते हैं तो वह कमरे में रखी हुई सभी अप्रकाशित वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार अन्धरी की तरह किसी दूसरी वस्तु को हटाकर प्रमाण ज्ञान भी अप्रकाशित को प्रकाश में ले आता है। जो वस्तु हटाई जाती है वही अविद्या अथवा अज्ञान है, जो अनुमान द्वारा भावात्मिकता सिद्ध होती है। और जिसकी व्यावृत्ति ज्ञान द्वारा हो जाती है।

उत्तर पक्ष :— उपर्युक्त अनुमान तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है क्योंकि ज्ञान को आप एक दूसरी वस्तु अज्ञान के बाद

सिद्ध करते हैं तो यह अज्ञान भी एक दूसरे अज्ञान की अपेक्षा रखेगा, ऐसा आप कर नहीं सकते क्योंकि ऐसा करने पर अर्थात् दूसरे अज्ञान से प्रपंच का आवरण हो जाने पर संसार की ही भावना मिट जायेगी. जो कि मायावादियों के सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। यदि आप भाव रूप अज्ञान को या उसके साधक अनुमान को तथा यह कथित विशेषणों से युक्त किसी दूसरी वस्तु के पश्चात् सिद्ध नहीं करेंगे तो हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा। दूसरे आपका वह अनुमान साध्य को सिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं रखता है! क्योंकि वास्तव में दीपक की प्रभा अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नहीं करती। ज्ञान किसी वस्तु का प्रकाशन कर सकता है। दीपक के रहते भी ज्ञान से ही विषयों का प्रकाशन होता है। चक्षु इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करती है। उसी समय प्रदीप प्रभा सहायक के रूप में प्रकाश के विरोधी घने अन्धकार को दूर करके साधन बनती है। जिस अज्ञान के विषय में विवाद है। वह विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप ब्रह्म में आश्रय नहीं ले सकता क्योंकि वह अज्ञान है जबकि दूसरा ब्रह्म ज्ञान है क्योंकि जैसी सुख आदि के बारे उत्पन्न अज्ञान ज्ञाता पर ही तो आश्रित है, न कि ज्ञान पर। क्योंकि जीव ही ज्ञाता है। इसी प्रकार आप (द्वैत) का वह रूप अज्ञान ज्ञाता पर ही आश्रित है न कि ज्ञान पर। परन्तु आप तो इस अज्ञान को ज्ञान रूप ब्रह्म पर आश्रित मानते हो जो कि ठीक नहीं है। यदि आप कहे कि सुख आदि के विषय में होने वाले अज्ञान का आश्रय स्वचेतन है। उसका स्वभाव ही विशुद्ध ज्ञान है, फिर अज्ञान का आरोपण ज्ञान स्वरूप आत्मा पर कैसे करते हैं। इस का उत्तर यह है कि अनुभव करना, अनुभव करने वाली आत्मा का एक धर्म है। जो धर्म केवल अपनी सत्ता से किसी वस्तु में व्यवहार की योग्यता उत्पन्न करने का स्वभाव रखता है। जिस अनुभूति के ज्ञान अवगति, संविद आदि बहुत से नाम है। तथा जो धर्म कर्म

करने वाला भी है। अनुभव करने वालों को आत्मा और आत्मा की वृत्तियों में स्थित एक गुण को ज्ञान कहते हैं। यदि आप कहे कि-ज्ञान तो आत्मा स्वरूप है, तो भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वरूप होते हुए गुण भी है जिस प्रकार मणि, सूर्यादि तेजस पदार्थ स्वयं प्रभा ने युक्त स्वरूप से अवस्थित है। किन्तु प्रभा रूपी गुण के आश्रय स्थान भी है। अर्थात् सूर्य आदि तेज के स्वरूप भी है। अर्थात् सूर्य आदि तेज के स्वरूप भी होकर भी तेज के एक प्रकार के प्रभा गुण से भरे हैं। जिस प्रकार प्रभा मुख्यतः द्रव्य है, गौण रूपेण उसे गुण मानते हैं। उसी प्रकार ज्ञान भी मुख्यत: द्रव्य (आत्मा का स्वरूप) गौण रूप से उसे गुण के रूप में समझते हैं। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है।

नमक का टुकड़ा जैसे अन्तबाह्य का बिना भेद किए रस का ही खण्ड है। उसी प्रकार यह आत्मा अन्तबाह्य के विभाजन से शून्य हो प्रज्ञान ही खण्ड है। इसमें ज्ञान को आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है कि जो यह समझे कि मैं इसे सूंध रहा है, वहीं आत्मा है।[1]

हमने यहां पर देखा है कि उपनिषदों में भी आत्मा को ज्ञान स्वरूप और कुछ में अज्ञान गुणक यथा तथा ज्ञान स्वरूप दोनों माना गया है। इस प्रकार रामानुज का कथन है कि जहां अज्ञान को भाव रूप मानने में प्राप्त प्रमाण भी स्वीकार नहीं है क्योंकि कहा कि जो ऋत से भिन्न हो उससे ढका हुआ है।[1]

---

१ स तथा सन्घवघनाऽतरोऽब्राह्यः कृत्स्नो रसघनो रूपैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽ वाह्यः कृत्स्न प्रज्ञानघनः एव

बृ०उ० ४.५.१३

यहां पर उसे भिन्न पाप कर्मों का कहा है न कि अज्ञान कहा गया है। जो ब्रह्म की प्राप्ति का विरोधी है। क्योंकि ऐसा अन्यत्र भी कहा गया है। जो इस ब्रह्म की प्राप्त नहीं करते हैं, वह अनृत से ढके हुए हैं।2 आप लोग जो अनृत का अर्थ अविद्या करते हो सो ठीक नहीं। यहां पर तो केवल अनृत अर्थ का वे पाप कर्म है जो ब्रह्म लोक प्राप्ति में बाधक बन जाया करते हैं। क्योंकि ऋत उन कर्मों का कहते हैं जो हमें ब्रह्म लोक की प्राप्त कराते हैं।

माया शब्द भी जिसे आप लोग अनिर्वचनीय अविद्या कहते हैं, यह भाव रूप अज्ञान का बाधक नहीं है अपितु विचित्र पदार्थों की सृष्टि करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है।3

पूर्व :– अद्वैत की सिद्धि में श्रुति प्रमाण है। उपनिषद, गीता में इस प्रकार के प्रमाणों को कोई न्यूनता नही है। निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध हो रहा है कि ब्रह्म निर्विशेष है, आत्मा और ब्रह्म की एकता अज्ञान के नष्ट होने पर हो जाती है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।4 जिस प्रकार मिट्टी मूल में सत्य है, शेष जितने भी पदार्थ मिट्टी से बने हैं, उसका विकार मात्र है।5 अतः इस

---

१ अथ यो वेदेदं स आत्मा छ० ८.१२.४.

न चानृतेनहि प्रत्यूढ़ाः छ० ८.३.२ ॥

२ य एतंलोकं य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेनहि प्रत्यूढाः।

३ मायां तु प्रकृतिं विद्यात् (श्व० उ० ४.१०) छा० ८.३.२ ॥

४ ब्रह्म वेद ब्रह्मैवभवतीति। मु० ३.२.६ ॥

५ मृत्योः समृत्युमाप्नोति विकारो नामधेयमृत्तिकेत्येवसत्यम्।

(छान्दोग्य ६-१-८)

प्रकार ब्रह्म केवल पारमार्थिक सत्ताहै शेष में जगत् आदि तो माया के विकार जानो। जो नानात्तव का दर्शन करता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है[1] जब तक यह द्वैत रहता है तभी तक सभी दु:ख है। यह जो सब कुछ दिखाई देता है वह आत्मा है। चिन्मात्र ब्रह्म है, जो निर्विशेष है वही परमार्थत: सत् है। उसके अतिरिक्त जितने भी ज्ञाता, ज्ञेय आदि जो भेद हैं। वे सब कल्पित और मिथ्या हैं १ में (ब्रह्म) ही सर्व भूतों का एकमात्र आश्रय हूं। ब्रह्म ही केवल है दूसरे पदार्थ नहीं हैं।

उत्तर :- वस्तु हमेशा अपने गुणों के साथ होती है। अर्थात् वस्तु सविशेष होती है निर्विशेष कभी नहीं। हम देखते हैं कि पदार्थ सविशेष रूप से, किसी न किसी विशेषण के साथ प्रतीत होता है। सभी वस्तुओं के स्वभाव अथवा विशेष धर्म होने से सभी वस्तुयें सविशेष ही है। कहीं भी निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नहीं होती है। स्वभावत: ज्ञाता का ज्ञातव्य विषय का प्रकाश करना ही ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ब्रह्म भी सविशेष है। जैसा कि शास्त्र में कहा वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि गुणों वाला है उसके अन्दर अननतादि गुण विराजमान है इससे ब्रह्म भी सविशेष हो हुआ।

पूर्व :- वह ब्रह्म निर्विशेष है। तुमने जो सत्यार्थ गुणों वाला अर्थ किया हुआ ठीक नहीं अपितु वह ब्रह्म है असत्य नहीं, अज्ञानी नहीं और सान्त नहीं है। इसका निषेधात्मक अर्थ करना चाहिए।

उत्तर- फिर वह कैसा है यह भी नहीं, वह भी नहीं। उसका अपना स्वरूप क्या हुआ जिस वस्तु का अपना स्वरूप नहीं होता वह

१ इदं सर्वं यदंयमात्मा (बृहदा० ४.५.७ ॥

पदार्थ पदार्थाभास ही होगा। यह तो माना जा सकता है कि जो गुण उसमें न हो उनका खण्डन किया जाये जैसे ब्रह्म के अन्दर रागद्वेष कपट जड़ता आदि गुण नहीं उस दृष्टि से वह निर्गुण है परन्तु उसमें चेतनता, न्याय-ज्ञान, अनन्तता गुण विराजमान है इसलिए वह सविशेष अर्थात् सगुण भी हो गया है। अतः उपनिषदों में जो उसके लिए निर्गुण निष्कल आदि शब्द आये हैं यह सापेक्ष हैं। अर्थात् उस अपने स्वभाव एवं स्वरूप वाले विशेषण अर्थात् गुण हैं विरोधी नहीं। किसी वस्तु के विशेषण जहां व्यावर्तक होते हैं अर्थात् दूसरी वस्तु से पृथक करने वाले होते हैं वहां पर विशेषण उस वस्तु का प्रवर्तक और प्रकाशक भी होता है।1 यहां अद्वैत शब्द जीव और दूसरे पदार्थों से पृथक करता है विशेषण जो प्रकाश करने वाला है वह ब्रह्म एक है हमें इसका ज्ञान कराता है। जैसे इस नगर में देवदत्त अद्वितीय धनी है, विक्रम सिंह सेना में अद्वितीय शूरवीर हैं।2 इससे यही सिद्ध होता है कि देवदत्त के समान इस नगर में दूसरा कोई धनी नहीं है। विक्रम सिंह के समान सेना में कोई शूरवीर नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म के विषय में समझना चाहिए। शेष आपने जो अद्वैत की सिद्धि में प्रमाण दिये है उनकी भी संगति समझनी चाहिए। क्योंकि उपनिषद् और वेदादि में द्वैत परक बहुत वचन हैं जिनकी इसी प्रकरण में आगे व्याख्या होगी।

---

१ सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म,। ४ एकेमेवाद्वितीयं ब्रह्म।
अहमात्मा गुडाकेश। सर्वभूताशयस्थितः। (गीता १घ.३)

२ अशेष विशेष प्रत्यनीकचिन्मात्र ब्रह्मैव परमार्थः तदतिरेकि नानाविध ज्ञातृज्ञेय तत्कृतज्ञानभेदादि सर्व तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम् (छा ६.२.१.)

पूर्व०–आप तो कहते हैं कि उपनिषद् वाक्यों कि संगति लगा लेनी चाहिये परन्तु तैतिरीय उपनिषद् में आता है कि जीवात्मा और ब्रह्म में थोड़ा सा भी अन्तर करता है उसको भय होता है।

उत्तर– इसका अर्थ जो आपने किया सो ठीक नहीं। अपितु यह है कि जो मनुष्य उस परब्रह्म परमात्मा का खण्डन करता अथवा जो अपने पराये का भेद करता है तथा परमात्मा को सर्व व्यापक न समझकर उसके नियमों के विपरीत आचरण करता है और जो दूसरों से शत्रुता है उसको भय प्राप्त होता है।

पूर्व– मैं ब्रह्म हूं और वहतू ब्रह्म है[1] इत्यादि वाक्य भी तो स्पष्ट अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

उत्तर– यहां पर ऋषि दयानन्द जी के शब्दों में इन वाक्यों का अर्थ दिखाते हैं। मैं ब्रह्मस्थ हूं, यहां तात्स्थ्योपाधि है (जैसे हम कहतें हैं) कि मञ्चान पुकारते हैं।[2] मञ्चान जड़ है, उनमें पुकारने का सामथ्र्य नहीं इसलिए मञ्चस्थ पुरूष पुकारते हैं इसी प्रकार यहां भी जानना। कोई कहे कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं पुन जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेषता है? इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्स्थ हैं परन्तु साधर्म्य युक्त निकटस्थ जीव है वैसा अन्य नहीं, और जीव की ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में ब्रह्म के साक्षात सम्बन्ध में रहता है। इसलिए जीव का ब्रह्म के साथ तात्स्थ्य व तत्सहचरितोपाधि अर्थात् ब्रह्म का सहकारी जीव है। इससे ब्रह्म

---

१ प्रवर्तक प्रकाशक विशेषणं भवतीति। (सत्यार्थ प्र० ७ समुल्लास)

२ अहिमन् नगरेऽद्वितीया धनाढ्यों देवदत्तः। अस्यां सेनायां अद्वितीय शूरवीरो विक्रम सिंहः)

और जीव एक नहीं है ।1 अब हम वह तू है इसका स्पष्टीकरण करते हैं। इससे एक बात तो यह है कि आप लोग जो तत् पद से ब्रह्म को लेते हो सो ठीक नहीं है क्योंकि यहां ब्रह्म शब्द तो है नहीं। हम उपनिषद् के समस्त बचन को रखते हैं जिसका अर्थ है कि वह ब्रह्म जाना जा सकता है जो वह सबके अन्दर व्याप्त हो रहा है अर्थात् सभी पदार्थों और जीव का अर्न्तयामी ब्रह्म से तू युक्त है। इस प्रकार का उपदेश श्वेतकेतु के पिता दे रहे हैं।

हमने जो अर्थ किया है उसका स्पष्टीकरण उपनिषद् के इस वचन में स्पष्ट आया कि महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को को उपदेश देते हैं कि जो ब्रह्म जीव आत्मा में स्थित और उस जीव से भिन्न है, जिसे अविद्वान लोग नहीं जानते हैं वह परमात्मा हमारी आत्मा में व्यापक है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार हमारे शरीर में जीवात्मा है, उसी प्रकार जीव में परमात्मा व्यापक है। ऐसे परमात्मा को तू जान।

इस उपरोक्त वचन से यह सिद्ध होता है कि जीव परमात्मा से भिन्न है परन्तु परमात्मा उस जीवात्मा में भी व्यापक होने से इस प्रकार वचन आते हैं कि जो ऐसे प्रतीत होते हैं अद्वैत का प्रतिपादन कर रहे हो परन्तु वास्तव में वे जीव और ब्रह्म को भिन्न ही मानते हैं। जब योगी समाधिरूप होकर ब्रह्मा का साक्षात्कार करता है तो कहता है कि जो परमात्मा व्यापक मेरे अन्दर हो रहा है।1 ब्रह्म शब्द का अर्थात् होता है आच्छादन करने वाला अर्थात् सर्व व्यापक

---

१ अथोदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति

अहं ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि। ५ मञ्चाः क्रोशन्ति

है। ऐसा ब्रह्म का अर्थ मानकर अर्थात् योगी उसका साक्षात्
कर के ऐसा अनुभव करता है। जैसा कि उपर कह आये हैं।

ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है ऐसा जो आप लो
मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि इसका अभिप्राय: यह है कि ब्रह्मवि
को प्राकृतक नाम रूप समाप्त हो जाता है तब वह ब्रह्म के आनन्द
प्राप्त होता है। आनन्द साम्य से ऐसा कहा जाता है। जैसे ह
पीछे बतला आये हैं।

पूर्व– भाग्य त्याग लक्षण द्वारा हम जीवात्मा और ब्रह्म
अभेद मानते हैं। जैसे यह वही देवदत्त हैं जो ग्रीष्मकाल में काशी
देखा था, उसी को वर्षा ऋतु में मथुरा में देख रहा हूं।[1] यहां प
काशी उष्णता, वर्षा ऋतु मथुरा आदि को छोड़कर शुद्ध देवदत्त क
ग्रहण होता हैं इसी प्रकार ईश्वर का परोक्ष देश, काल माया उपाधि
और जीव का देशकाल, अविद्या और अल्पज्ञता आदि छोड़ देने
शुद्ध ब्रह्म शेष रहता हैं। अत: भाग्यत्याग लक्षणा अर्थात् दोनों ओ
विभिन्नता वाले विशेषणों को छोड़कर, केवल दोनों तरफ साम्य
लेकर किसी वस्तु का निर्णय कर लिया जाता है।

उत्तर–यह भी ठीक नहीं क्योंकि माया से विशिष्ठ जो तुम ईश्व
मानते हो, उसका हम पीछे खण्डन कर आये हैं। यहां इतना स

---

१ य आत्मानि तिष्ठन्नात्मनोऽतरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीर
आत्मनोऽतरो यमयाति सत आत्मान्तर्याम्यमृत: ।।

स०प्र० ७ स०छा० ३.७.२

२ अयमात्मात्मा ब्रह्म (वृञ्,वृद्धौ,बृञ्, आच्छादने) माण्डू व्य०

(स०प्र० ७ स

झेंगे कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों नित्य हैं। आपका उक्त दृष्टान्त ईश्वर और जीव के पक्ष में नहीं घट सकता, क्योंकि वहां तो देवदत्त ही केवल भिन्न-भिन्न स्मृतियों में देखा हैं। परन्तु जीवात्मा के विषय में भी यह आया हैं कि वह नित्य हैं और शरीर के नष्ट होने पर वह नष्ट नहीं होता हैं।[1] विशेष जीवात्मा की नित्यता जीव प्रकरण में सिद्ध करेंगे।

पू० प०– ब्रह्म का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानने में आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में कहा हैं कि मकड़ी अपने अन्दर से ही तन्तु निकाल जाला बनाकर उसमें क्रीड़ा करती है और उस बने हुए जाल को अपने अन्दर पुनः समेट लेती हैं ठीक इसी प्रकार ब्रह्म अपने में से जगत को बना आप जगदाकार बन इस संसार में स्वयं क्रीड़ा कर रहा हैं।[2] क्योंकि माण्डूक्योपनिषद् पर गोडपाद आचार्य ने इस प्रकार कहा हैं जो प्रथम न हो अन्त में रहें वह वर्तमान में भी नहीं है। इसी प्रकार सृष्टि के आदि में जगत न था केवल ब्रह्म था प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा और केवल ब्रह्म ही रहेगा तो वर्तमान में भी ब्रह्म क्यों नहीं हैं।[3]

सोऽयं देवदत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः स इदानीं प्रावृट समये मथुरायां दृश्यते

नायं हन्ति न हन्यते (गीता) अजो नित्य शाश्वतोऽयम्

(गीता २.१८)

स य एषोणिमा ।। ऐतदात्म्यमिद सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति स०प्र० ७ वा०स०छा० ६ ७.

उ० प०– यदि आप के कथनानुसार जगत् उपादान कारण भी ब्रह्म हो तो वह परिणामी और विकारी हो जायेगा। क्योंकि उपादान कारण के गुण कर्म स्वभाव कार्य में आते है। जैसे–मिट्टी से घट बनता है घट का मिट्टी उपादान कारण है घट में भी मिट्टी के जडत्व आदि गुण आते है ठीक इसी प्रकार जो ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है चेतन है उस के ये गुण भी जगत् में दिखाई देने चाहिये परन्तु जगत् इस प्रकार का नहीं है इसलिपे ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता ऊपर आप ने जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया है आपके मत को सिद्ध नहीं करता है अपितु खण्डन ही करता है। क्योंकि मकडी का जो जड शरीर है वह तन्तु का उपादान कारण है और जीवात्मा उस का निमित्त कारण।[3]

अब तक हमने अद्वैतवाद का खण्डन उस का पूर्वपक्ष रखते हुए युक्तियों द्वारा किया। कहीं-कहीं उपनिषद् वचनों को लेकर जिनको कि अद्वैतवादी अपने मत में दिया करते हैं उन सभी बचनों की संगति हम इसी प्रकरण में लगा चुके है। अब इस से आगे दर्शन ग्रन्थों में त्रैतवाद प्रतिपादक प्रमाणों का उल्लेख करेंगे।

---

१ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। मुण्डुकोप ७॥

२ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने कि तत्तथा।

गोडपादीय का० अलात् ४.३१।

३ क्योंकि वह जड़ रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्त कारण है। यह भी परमात्मा की अद्भुत् रचना का प्रभाव है सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ८।

वेदान्त दर्शन :-

वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र में ही कहा कि इसके अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं।[1] यहां पर ब्रह्म दूसरा उसी की जिज्ञासा करने वाला यह स्पष्ट द्वैत की निष्पत्ति है।

ब्रह्म से अन्य जीवात्मा आनन्दमय नहीं, क्योंकि जीवात्मा के आनन्द की उपपत्ति युक्ति द्वारा प्रतिपादन नहीं की जा सकती।[2]

यहां पर ब्रह्म और जीव में भेद दिखाते हुए व्यास ने यह दिखलाया है कि जीवात्मा और ब्रह्म एक नहीं है अपितु भिन्न-२ है क्योंकि ब्रह्म जो आनन्द स्वरूप है जीवात्मा वैसा नहीं।

भेद का कथन होने से जीवात्मा तथा आनन्दमय ब्रह्म पृथक२ है। जीवात्मा और ब्रह्म मे भेद यही है कि ब्रह्म आनन्दमय है और जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है। क्योंकि शास्त्रों में केवल सत्चित् कहा है। हां इतना अवश्य है कि वह आनन्द की प्राप्ति का प्रयास करता है।[3]

जीवात्मा में उक्त गुण न होने से ब्रह्म से भिन्न है। यहां पर सूत्रकार यह बतलाना चाहते हैं कि जीवात्मा केवल शरीर में रहता है परन्तु सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है। वह ब्रह्म जन्म मरण आदि के बन्धन में नहीं आता है। इसलिए वह ब्रह्म जीवात्मा के सदृश्य नहीं है।[4]

---

१ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (वेदान्त १.१.)
२ नेतरोऽनुपपत्तेः १.१.१६.
३ भेदव्यपदेशाच्च १.१.१७.
४ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः १.२.२.

जीवात्मा कर्म एवं कर्त्ता के कथन से युक्त होने से वह उपास्य नहीं अपितु उपासक हैं। यहां सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि उपास्य और उपासक भिन्न-भिन्न है। उपासक जीवात्मा के हृदय में उपास्य आत्मा ब्रह्म सदैव विराजमान रहता है। अतः वह सत्य संकल्प आदि गुणों वाला जीव ब्रह्म से पृथक है ऐसा समझना चाहिये।1

प्राण धारण करने वाला आत्मा घी आदि का आयतन सम्भव नहीं यह जीवात्मा द्यौ आदि का आयतन नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभाव से अल्पज्ञ है। संसार की रचना में यद्यपि जीवात्मा के कर्म निमित्त होते हैं परन्तु फिर भी वे जड़ है इसलिए वे नियन्ता नहीं बन सकते। इसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा से भेद है अतः जीवात्मा द्यौ आदि का आयतन सम्भव नहीं है।2 जैसे आकाशादि उत्पत्ति प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध होते हैं वैसे जीवात्मा के विषय में उत्पन्न होने के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते क्योंकि उसे तो श्रुति में जन्म लेने वाला न मरने वाला, नित्य और शाश्वत आदि नामों से कहा है।3

जगत् सम्बन्धी व्यापार छोड़कर अन्य ऐश्वर्य मुक्त आत्मा को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जहां जगत् की रचना का शास्त्र में कथन है, वहां ब्रह्म का प्रकरण समझना चाहिए। मुक्त आत्मा का नहीं।4

---

१ कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च १.२.४.

२ प्राणमच्च। भेदव्यपदेशात् वेदान्त १.३.४.५.

३ नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य: २.३.७.

४ जगत् व्यापार वर्ज प्रकरणसन्निहित्वाच ४.४.१७.

इन उपरोक्त वेदान्त दर्शन के सूत्रों में ब्रह्म जीव और प्रकृति में भेद दर्शाया है। समस्त वेदान्त दर्शन में एक भी सूत्र उसमें उपलब्ध नहीं होता जो अद्वैत का प्रतिपादन करता है परन्तु आचार्य शङ्कर माया और अविद्या की कल्पना करके दर्शन का भाष्य अद्वैत परक कहते हैं। यद्यपि आचार्य शङ्कर ने इन उपरोक्त सूत्रों का अर्थ भेद परक ही किया है। परन्तु वे यह कहना भी नहीं चूकते कि यह भेद अविद्या के कारण है। प्रत्येक सूत्र के साथ उन्होंने ऐसा लिखा है जब कि जीवात्मा की मुक्ति का वर्णन करते हुए समय इस बात की अंगीकरण करते हैं कि कल्पतक का जीवात्मा की मुक्ति में रहते हैं। क्योंकि उन्होंने वृहदारण्क के एक वचन का अर्थ करते हुए कहा है। कि जीवात्मा मुक्तावस्था में अनेक वर्ष अर्थात् कल्पपर्यन्त निवास करते है। मुक्ति में जीवात्मा सदा के लिये नहीं रहता है। ऐसा भाव आचार्य शंकर ने अनेकों स्थानों पर व्यक्त किये है। उन में के कुछ का उल्लेख मुक्ति से पुनरावर्तन प्रसंग में करेगे। अब ये समझ नहीं आता कि जब शंकर मुक्ति में जीव को कल्प पर्यन्त मानते है तो फिर वे अद्वैतवादी कैसे हुये। अस्तु यह विद्वानो का अन्वेषणीय विषय है।

हमने देखा कि वेदान्त दर्शद भेद का प्रतिपादन करता है। ईश्वर जीव और प्रकृति का उल्लेख स्थान-स्थान पर उन्होंने किया है कि जीव के गुण प्रकृति में ईश्वर के गुण जीव में नहीं आ सकते है। इस प्रकार मूल तत्व त्रय का प्रतिपादन स्वरूप से हुआ है।

न्याय दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन तो स्पष्ट रूप से द्वैत को मानते ही है। ये दोनों प्रमाणुओं को नित्य मानते है जिस से जगत् का निर्माण हुआ है। न्याय ने बारह प्रमेय माने हैं उनमें और शरीरादि को माना है। शरीर प्रकृति का विकार है। आत्मा चेतन तत्त्व जो

नित्या ऐसा न्याय और वैशेषिक स्वीकार करते हैं। आत्मादि का विषय जीव की सिद्धि में लिखा जायेगा। न्याय और वैशेषिक तो द्वैत को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते ही हैं। विशेष इनका प्रमाण जीव प्रकृति आदि की सिद्धि में दिया जायेगा। यहां इतना ही पर्याप्त है।

सांख्य और योग दर्शन में भी द्वैत को अंगीकार किया गया है। सांख्य प्रकृति से जगत् की रचना करता है और उस प्रकृति को वह नित्य मानता है।[1] सृष्टि रचना की यही प्रणाली योग दर्शन ने भी मानी है। ईश्वर को[2] दोनों ही स्वीकार करते हैं। हां सांख्य-कारिका में ईश्वर का अवश्यमेव खण्डन किया है परन्तु महर्षि दयानन्द सांख्य सूत्रों को ही प्रमाणिक मानते हैं जिसमें ईश्वर को स्वीकार किया गया हैं।[3] इस प्रार सभी दर्शनों में ईश्वर, जीव और प्रकृति के नित्यत्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

□□

---

१ परावतः प्रकृष्ठाः समाः सम्वत्सरान अनेकान् वसन्ति।
ब्रह्मण अनेकान् कल्पान् बसन्ति त्यर्थेः॥
छा० ६.२.५ शांकर भाष्य।

२ ······पुरुष विशेष ईश्वरः (सां० १.२४)

३ ईदृश ईश्वर सिद्धि सिद्धा॥ साख्य॥ ३.५७॥

महर्षि दयानन्द की वेदार्थ दृष्टि

वेद मंत्रों की एकाधिक व्याख्या के प्रवृत्ति ने विभिन्न व्याख्या प्रणालियों को जन्म दिया। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः अधिदैवत तथा अध्यातम के संदर्भ में ही व्याख्याओं का प्रयत्न हुआ है। यास्कीय निरुक्त भी उक्त दो दृष्टियों का ही विशेष रूप से पोषण करता है। यों आर्ष, वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, अधिभूत (इतर), आत्मप्रवाद तथा अधिलोक परक अर्थ-प्रणालियों का प्रचलन भी उनके समय रहा है और 'चत्वारि वाक् परिमिता' जैसी ऋचाओं की व्याख्या उन्होंने इन्ही के आधार पर की है। दुर्गाचार्य मंत्रों का तात्पर्य अध्यातम, अधिदेव तथा अधियज्ञ परक ही मानते थे।१ स्कन्द महेश्वर ने 'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः' कहकर मन्त्रों का व्याख्या क्षेत्र और भी विस्त्तीर्ण कर दिया है। तात्पर्य यह है कि वेदमंत्रों को अखिल विद्याओं का द्योतक मानते हुए उनको बहुविध व्याख्याएं प्राचीन काल से ही होती चली आ रही हैं। यास्कीय निरुक्त में अधिवैवत, अध्यातम, आर्ष, परिव्राजक, अधियज्ञ, नैरुक्त, वैयाकरण, नैदान, ऐतिहासिक तथा आख्यान मूलक प्रणालियों के उदाहरण दिए गए हैं। परिव्राजक परक व्याख्या के कई प्रसंग पुराणों में भी मिल जाते हैं। दार्शनिक तथा अध्यातम परक अर्थों में ही निर्वेदमूलक व्याख्याओं का समाहार विद्वानों ने माना है। इतिहास तथा आख्यान के अतिरिक्त समाज तथा राटोपयोगी अर्थ अधिभूत प्रक्रिया के ही अंग हैं। अतः यज्ञ, देवता, अध्यातम तथा समाजोपयोगी संदर्भों में ही वेदमंत्रों की व्याख्याएं प्रायः महत्वपूर्ण हो सकीं। महर्षि दयानन्द ने वेदार्थ की अधिभूत प्रक्रिया को सर्वथा सामाजिक वैज्ञानिक रूप देकर वेदार्थ के क्षेत्र में युगान्तकारी परिर्वतन किया। उनसे पूर्व सायण ने प्रायः

याज्ञिक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ही भाष्य किया तथापि अधि
दैवत, अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिराष्ट्र परक व्याख्एँ भी उनके
भाष्य में मिल जाती हैं। इसका तात्तर्य यही है कि यह वेदमंत्रों के
अर्थ के लिए व्यापक प्रणालियों के पक्षधर थे। सर्वजनोपयोगी भाष्य
की अपेक्षा करते थे पर वैज्ञानिक अनुसंधान तथा बहुशास्त्री
अनुशीलन के अभाव में वह इस कार्य को पूरा न कर सके।

भाष्य के लिए परम्परित दृष्टि का आग्रह भी उनके सर्वव्याप
निर्णय आकलन में बाधक रहा। उनमें इतर अर्थ करने की उत्सुकता
थी और इसका प्रमाण यह ऋचा है जिसमें सैनिक को केन्द्र बनाकर
उन्होने युद्ध परक आख्यान किया है।

वज्रं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुलापृथूनि,
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा व सुस्रोच्चमसो दृहंता तम्।

पहले इसकी व्याख्या में अध्यात्म, फिर यज्ञ तथा तदुपरान्त
योद्धृ व्यवस्था की गई है। यहां युद्ध परक अर्थ पूर्ण परम्परा से
हटकर अधिराष्ट्रीय व्यवस्था के अन्तंगत किया गया है। अर्थात्
युद्धकर्त्ता वीरों, तुम सेनाओं का संगठन कर युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ
यह युद्ध शत्रुओं के प्राणों को पी जाने वाला है। कवच सियो ताकि
शत्रु के शस्त्र तुम्हें भेद न सकें। शत्रुओं की बाधाओं को दूर करने
के लिए तथा अपनी रक्षा के लिए लोहे के नगरों का निर्माण करो
तुम्हारा यज्ञरूपी चमस दृढ़ हो।२

ऋग्वेद के दशम मण्डल के भाष्य में द्विविध व्याख्याएँ अधिक
हैं। इनमें भी उनका रुझान याज्ञिक, अधिदैवत तथा अध्यात्मिक
व्याख्याओं की ओर अधिक है। इसी मण्डल के १५९ वे छह ऋचाओं
के सूक्त की व्याख्या वह शची (इन्द्र की पत्नी) की उक्तियां मा

कर करते हैं जबकि इन मंत्रों में कोई भी गृह पत्नी अपनी और अपने कुटुम्ब के लोगों की वीर भावना की झलक देख सकती है ।

ऐतहासिक पक्ष के समर्थक सायण को मंत्रार्थ के लिए आदर्श मानते हैं। भारतीय तथा यूरोपीय विद्वान् इतिहास प्रसिद्ध नामों तथा घटनाओं की खोज वेद में करते रहे हैं। यह प्रवृत्ति अद्यतन दिखाई पड़ती है। राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम आदि के आख्यान भी वेदमंत्रों में खोजे जा रहे हैं। इस प्रवृत्ति से वेद के अपौरुषेय माने जाने में कठिनाई आती है। सायण स्वयं भी ऐतिहासिक पक्ष के प्रति आश्वस्त नहीं थे। यही कारण है कि यही कारण है कि ऐसे प्रसंगों में वह निरुक्त परक अर्थ भो साथ-साथ दे देते हैं। उदाहरण के लिए यह ऋचा लीजिए—

दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्तयत् पुरः शर्म शारदीर्दर्त्,
ऋणोरपो अनवधार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः ।
ऋक् १।१७४।२

इसका अर्थ करते हुए ऐतिहासिक पक्ष में वृत्र और पुरुकुत्स का उल्लेख किया है किन्तु यहीं पर 'वृत्रं मुख्यं मेघं रन्धीः असाध्यः अहनः' कहकर वृत्र का मेघ परक अर्थ किया है। अनिश्चय की स्थिति में भी सायण राजाओं, ऋषियों, नगरों, नदियों आदि व्यक्तिवाचक नामों को वेद में स्वीबार करते हैं। स्वामी दयानन्द ने इस दृष्टि को भ्रम पूर्ण बताकर इसका निषेध किया—

२-यद्वा हे योध्दारः वज्रं संघातात्मकं ग्रामं कुरुत। स खलु युष्मदीयः संग्रामो नृपाणः नरो योद्धारः पिबन्ति प्रत्यार्थिनां प्राणान् इति नृपाणः वर्म कवचानि देहावरणानि सीव्यध्वम्। यथा परकीय शस्त्रैः शरीर

१-अथर्व १६।५८।४

भेदो न भवति तथा संनह्यध्वम् । आयसीः अयोनिर्मिताः पुरः नगराणि कृणुध्वं शत्रु बाधा परिहारार्थं स्वरक्षार्थं च । एतादृशो वः युष्माकं चमसः अदनसाध न भूतः संग्रामो मा सुस्रोत् माउपगच्छतु तं दृहंतेति मन्त्र दृष्टा ऋषिब्रू ते ।

'अतो नात्र मन्त्र भागे इतिहासलेशोऽप्यस्तीत्य वगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेद प्रकाशादिषु यत्र कुमेतिहास वर्णनं इतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ।'

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३१वें सूक्त के ग्यारवें मन्त्र में आए नहुष शब्द का अर्थ सायण ने 'नहुषस्य एतन्नामक राजा विशेषस्य' किया है। इसी प्रकार सत्रहवें मन्त्र में आये ययातिवत् का अर्थ ययाति राजा के समान किया है। यदि ऋग्वेद में नहुष तथा ययाति का आख्यान स्वीकार कर लें तो पुरुरवा के पुत्र आयु, आयु के पुत्र नहुष तथा नहुष के पुत्र ययाति के उल्लेख से ऋग्वेद अत्यन्त परवर्ती हो जायेगा। पुराणों में चन्द्रवंशी राजाओं के वंश प्रसंग में इनका उल्लेख हुआ है।[1] स्वामी जी ने वेदों को नित्य मानते हुए 'वेदानां सनातन त्वात् तस्य गाथाऽत्र न संभवति। कहकर इस पक्ष का खण्डन किया तथा नहुष का अर्थ निघण्टु से मनुष्यः तथा ययाति का अर्थ प्रयत्नवान पुरुष किया है। कण्व, अदिति, अत्रि, भारद्वाज वसिष्ठ तथा जमदग्नि आदि का अर्थ भी स्वामी जी ने सायण से भिन्न किया है। यास्क ने निरुक्ति पूर्वक सायण से भिन्न अर्थ किया है।

---

१ यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्या भवन् सुताः। नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजीरम्भश्च वीर्यवान्। श्रीमद्भागवत ९.१७.१.
यतिर्ययति संयाति रायानिर्वियतिः कृतिः, षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रि याणीव देहिनः भागवत् ९.१८.१

यद्यपि सायण यहां भी एकाधिक अर्थ करते हैं जैसे भरद्वाजाय संभृयमाण हविर्लक्षिणान्नाय यजमानाय, अथवा 'प्राणो वै 'भरद्वाजवदिति' तथापि प्राण, अन्न और यजमान अर्थ करके भी सशय वश भरद्वाज का अर्थ ऋषि कियाहैं ऋषि दयानन्द ने ऐसे अवसरों पर ब्राह्मण ग्रन्थों का सहारा लेकर यौगिक अर्थ किया है स्वामी जी अर्थ दृष्टि ब्राह्मण ग्रन्थकारों तथा यास्क से अनुप्राणित है अत: ग्राह्य है। टैत्तिरीय आरण्यक जब 'मनो वै भारद्वाज ऋषि: अन्नं वाजो यो वै मनो विभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति,तस्मात् मनो भरद्वाज ऋषि:' कहता काठक जब 'अग्निर्वै ब्राह्मण: तथा शतपथ जब इन्द्रो त्रै यजमान:' क्षत्रं वै यमो विश: पितर:' तथा 'अग्नि वैं रूद्र:' ,चक्षु वैं जमदग्नि:' कहकर ऐतिहासिक पक्ष का निषेध करते हैं तब हठ पूर्वक कल्पित अर्थ क्यों किए जांय। इन पदों को लेकर कल्पित आख्यायिकाओं की सृष्टि पुराण ग्रन्थों में हुई। पुराणों को पंचम वेद मानने के कारण सायण उक्त आख्यायिकाओं की छाया ढूंढते चले गए। उन से पूर्व मंत्र रामायण जैसी रचनाएँ प्रकाश में आ गई थीं। रामकथा के पात्र तथा घटनाएं मन्त्रों में संकेतित कराये जा चुके थे। आज भी करपात्री जैसे विद्वान् लोक में घटनापूर्वक शब्दोल्लेख होता है तथा वेद में शब्दानुसारिणी घटना होती है, के अनुसार वेद में आए नामों को इतिहास सिद्ध मानते हैं तथा 'प्रतद् दु:शीमे पृथवाने वेने प्ररामे वोच-मसुरे मघवस्तु (ऋक् १०.७३.१४.) ऋचा का कर्थ करते हुए दु:शीम पृथवान, वेन और राम का सम्बन्ध सूर्यवंशी वेन तथा राम से मानते हैं। पर ऐसा मानने से वेद के नित्यत्व में बाधा पहुँचती है। अस्तु सायण जब स्वयं 'यस्य नि:श्वसित वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्' घोषणा करते हैं तो ईश्वरीय ज्ञान के कारण उसे अनित्य रूप से

---

१ रामायण मीमांसा पृष्ठ १८

घटित होने वाली घटनाओं से क्यों जोड़ा जाए। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में 'तस्माद् यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणा पूर्णात्पुरुषात् स हुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः पर ब्रह्मणः ऋग्वेद, यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदश्च चत्वारो वेदांस्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्' कहकर स्वामी जी ने सायण का समर्थन किया है पर साय ऐतिहासिक अर्थ करते हुए अपनी इस मूल प्रतिज्ञा को भूल गए। स्वामी जी का भाष्य इस कसौटी पर सर्वत्र खरा उतरता है।

वेद-विद्या ब्राह्न विद्या तथा सृष्टि विद्या दोनों हैं। वेद मन्त्रों की मानव जीवनोपयोगी व्याख्या तथा विज्ञान सम्मत व्याख्या सुदीर्घ भाष्य परम्परा में पहली बार स्वामी जी ने की। भूगोल खगोल, गणित, योग, मुक्ति, नौविमानादि, तार, आयुर्वेद, पुनर्जन्म, राज्यव्यवस्था, समाजव्यवस्था, वर्णाश्रमधर्म, यज्ञ, शिल्प, शस्त्र, वाणिज्य तथा कृषि आदि का विनियोग भी उन्होंने ही किया। इससे एक ओर भारतीय अतीत के गौरव का उदघाटन हुआ तो दूसरी ओर कर्मकाण्ड तक सीमित समझे जाने वाले ज्ञान का आधुनिक ज्ञान विज्ञान तक प्रसार हुआ। मानव जाति के कल्याण दर्शक के रूप में वेदों की प्रतिष्ठा हुई। इससे वेद पढ़ने का अधिकार मनुष्य मात्र तथा वेदार्थ में परम्परित विनियोगों का अनुसरण आवश्यक नहीं समझा गया।

स्वामी जी से पूर्व ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में ज्योतिष सिद्धान्त सम्बन्धी सामग्री को देखकर वैज्ञानिक प्रणाली पर अर्थ करने की परिपाटी पड़ सकती थी, पर नवीन दृष्टि सम्पन्न विनियोग की परिवर्तन सापेक्ष प्रणाली परिपाटी विरुद्ध समझी जाने के कारण स्वीकार न हो सकी। स्वामी जी की सूझबूझ से यह कार्य महत्त्वपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ। तैत्तिरीय संहिता (३.४.७.१.) में कहा गया है

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः ।

अर्थात्– चन्द्रमा सूर्य से नीचे लोक में भ्रमण करता है तथा चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य रश्मियों के कारण होता है, उसमें स्वतः प्रकाश नहीं है। सूर्य जैसे आकाश में ऊपर चढ़ता है वैसे रात्रि होने लगती है पर कुछ भागों में दिन होने लगता है। यह घटना तभी सम्भव हो सकती है।, जब पृथ्वी गोल हो। पृथ्वी यदि समधरातल होती तो यह दृश्य कभी घटित न होता।

निवेशयन् प्रसुवन् अक्तुर्भिजगत् (ऋक् ३.५३.३.) ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि सूर्य न कभी उदय होता है और न अस्त।

स वा एष न कदाचनास्मेति, नोदेति।[1]

स्वामी जी से पूर्व भी प्रतीकात्मक अर्थ करने का श्री गणेश कुमारिल भट्ट ने किया था। 'अहल्यायैजारः' को पुराण में विस्तार मिला। इन्द्र को गौतम की पत्नी अहल्या का जार (उपपति) बताया गया। शतपथ (३.३.४.१८), तैत्तिरीय (१.१२.४), षडविंश (१.१.) तथा लाट्यायन श्रौत सूत्र (१.३.१) में यह कथन उपलब्ध है। इन्द्र, अहल्या के इस वृत्त पर वेदनिंदकों के प्रहारों का सामना कुमारि भट्ट को करना पड़ा। उन्होंने परम्परा से हटकर तन्त्रवार्तिक में इसका नया अर्थ किया। यह गाथा सूर्यरात्रि के व्यवहार का द्योतन कराती है। चन्द्रमा गोतम है। उत्तमो गावोस्य सः अर्थात् निर्मल किरणों वाला। निरुक्त भी सर्वेऽपिरश्मयोगावः उच्यन्ते कहता ही है अहल्या का अर्थ है रात्रि (अहर्लीयते यस्यां सा, जिसमें दिन लीन हो जाये) सूर्य इन्द्र है। (य एष सूर्यस्तपति, एष उ एव

---

१ संस्कृतशास्त्रों का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय–पृष्ठ ४६

इन्द्रः, शतपथ) सूर्य के उदय होते ही रात्रि जीर्ण हो जाती है अतः व
जार है। निरुक्त भी 'आदित्योऽत्र जार उच्चते रात्रेर्जरयिता' कहत
है। अर्थात् कुमारिल की सम्मति में भी चन्द्रमा की पत्नी रात्रि सू
द्वारा जीर्ण होती है। महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिक
में यही व्याख्या स्वीकार की है।[1] तात्पर्य यह कि स्वामी जी क
अर्थ प्रणाली का समर्थन कुमारिल भट्ट प्रभृति मीमांसकों से भी ह
जाता है और इस प्रकार स्वामी जी के अर्थों को परम्परा विरुद्ध क
कर त्याज्य नहीं बताया जा सकता। स्वामी जी ने' आयं गौ
पृश्निरक्रमीदसदन् मातरंपुरः' (य० ३.६) का अर्थ कहते हुए कहा कि
पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। त्वं सोमपितृभिः संविदानोऽनु
धात्रा पृथिवी आततन्थ' (ऋक् ८.४८.१३) का अर्थ करते हुए बताया
कि चन्द्र पृथ्वी के चारों ओर घूमता है।

स्वामीजी के समय तक समुद्र मात्रा निसिद्ध समझी जाती थी।
कलिवर्ज्य तालिका में समुद्र यात्रा करने वाले ब्राह्मण का उल्लेख है।
बौधायन धर्म सूत्र (१.१.२२.) ने समुद्र संयान (समुद्र यात्रा) को
निन्धमावा है और उसे महापतकों में सर्वोपरि स्थान दिया है।
(२.१.५१) मनु ने समुद्र यात्रा लौटे ब्राह्मण को श्राद्ध में निमं-
त्रित होने के लिए अयोग्य ठहराया। औशनस स्मृति में भी ऐसा ही
कहा गया है।

वेद विक्रयिणश्चैते श्राद्धादिषु विगर्हिताः
द्रुम विक्रयिणो यत्र परपूर्वाः समुद्रगाः ४.२२

महीधर चाहते तो इस अंधमान्यता का खंडन कर सकते थे।
रुद्राध्याय के निम्न मंत्र की व्याख्या में उन्होंने प्रयागादि तीर्थों का

गमन मान कर संसार सागर से संतरण का अर्थ संगत समझा। स्वामी जी ने युग की आवश्यकता को ध्यान में रखकर कहा कि मनुष्यों को चाहिए कि नौकादि यानों में प्रशिक्षित मल्लाह लेकर समुद्र के उस पार इस पार आ जा के देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तरों में व्यवहार से धन की उन्नति कर, अपना अभीष्ट सिद्ध करें। उन्हीं का अर्थ नौकादिना पर तटादर्वाचीने तट प्राप्ता तथा तीर्थाय का अर्थ वेद विद्याध्यापकेषु सत्यभाषणादिषु च साधवे' किया। मंत्र है—

नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः।

ऐतिहासिक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण लोग समुद्र पार करके स्याम कम्बोडिया, जावा आदि देशों में जाते थे। राजा और व्यापारी गण भी आते जाते थे। बाबेरु जातक, मिलिन्द पञ्ह राजतरंगिणी तथा नारदस्मृति इसका समर्थन करते हैं। अतः स्वामी जी का यह अर्थ भी परम्परा विरुद्ध नहीं है।

यजुर्वेद के रुद्राध्याय का अर्थ करते हुए उन्होंने राजधर्म का निरूपण किया है और इस संदर्भ में उनका अर्थ मौलिक तथा लोकोपयोगी कहा जा सकता है। महीधर तथा उव्वट ने 'षोडशे शतरुद्रियाख्यहोम मंत्रा उच्यन्ते' कह कर रुद्र देवता परक अर्थ ही किया है। यहां भी दयानन्द जी की दृष्टि पृथक् है। दूसरे मन्त्र का तात्पर्य वह शिक्षक शिष्य के व्यवहार, तीसरे का राजपुरुष के कर्त्तव्य, चतुर्थ पंचम का वैद्य के कार्य तथा छटे से २६ तक राजधर्म निरूपण लेते हैं। यही नहीं महीधर प्रायः जिन मंत्रों का अर्थ यज्ञ वेदिका अथवा भूमि-

---

१. पुराण विमर्श—आचार्य बलदेव उपालय—पृष्ठ २५१

२. संसाराब्धे : परतीरे जीवन्मुक्त रूपेणभवः पार्यः तस्यै तीर्थे—प्रयगादौ भवः तीर्थ्यः तस्यै।

खनन से करते हैं स्वामी जी वहां सुवर्ण निर्माण आदि का उल्लेख कर अधिभूत परक व्याख्या करते हैं। निम्न मन्त्र की व्याख्या में स्वामी जी ने लिखा है कि हे शिल्पी तेरे साथ भूमि को खोदने वाली नारी के सदृश लोहे की कस्सी है। उससे अग्नि सयोग द्वारा सुवर्ण बना—

अभ्रिरसि नार्चसि त्वया वयमग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ जागतेन छन्दसांगि रस्वत्। य० ११।१०

यहां भूगर्भतत्त्वविद्या का संकेत स्वामी जी के व्यवहारपयोगी व्याख्या दृष्टि का ही परिणाम कहा जा सकता है।

सायण, महीधर तथा उव्वट ने अग्नि, अग्नि, अदिति, इन्द्र, रुद्र, विष्णु आदि का अर्थ अधिदैवत प्रधान ही किया है पर स्वामीजी ने अधिभूत तथा अध्यात्म की दृष्टि से इनकी व्याख्या की है। अग्नि को परमेश्वर, जींवात्मा, विद्वान, सभाध्यक्ष राजा, सेनापति, वैद्य, नेता, योगी, अध्यापक, उपदेशक तथा न्यायाधीश कहा गया है। अदिति को परमेश्वर, आत्मा, विदुषी, माता, अध्यापिका तथा राजसभा बताया द्वया है। इन्द्र का तात्पर्य परमेश्वर, जीवात्मा, सम्राट, शूरवीर, विद्वान्, शिल्पी, कृषक तथा वैद्य बताया गया है। रुद्र को सर्वत्र परमेश्वर, प्राण, सेनापति, सचिव, राजा, तथा विद्वान् के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। विष्णु का अर्थ भी प्राण, यज्ञ, सेनापति, शिल्पी योगी, तथा गृहपति किया है। सारांश यह कि देवता विशेष परक शब्दों की व्याख्या को निरुक्त के आधार पर व्यापक अर्थ विस्तार स्वामी जी ने दिया है! यज्ञों वै विष्णु:, यज्ञ उ वै प्रजापति:, पशवो सविता, अग्निर्वैरुद्र:, वीर्यं वा इन्द्र:, आदित्यो ह्वै बाह्य: प्राण उदयति, वृत्रो वै सोम आसीत्, अर्चिषि भृगु: संवभूव अङ्गारेष्वंगिरा, प्राणइन्द्र:, इन्द्रो वै यजमान:, वायुरपरचन्द्रमा इत्येते भृगव: आदि वाक्य ब्राह्मणग्रन्थों में उक्त शब्दों के अनेक अर्थ वाचक होकर आए हैं। अत: स्वामी

जी ने इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए इन्द्रादि शब्दों के विविध अर्थ किये। इस प्रकार के अर्थ करने में ब्राह्मणग्रन्थों ने उन्हें प्रेरणा दी। सायण आदि से हिंसा परक व्याख्यायें भीं इन प्रकरणों में की। पुरोडाश को मांस का वाचक माना गया। विचित्र बात है कि एक ओर सायण अध्वर का अर्थ ध्वरतिहिंसाकर्मा के आधार पर हिंसारहित करते हैं और फिर यज्ञ में उपयोगी पशुओं को मारने का समर्थन करते हैं। यजुर्वेद पशून् पाहि की प्रार्थना संकेत देता है। अतः दयानन्द ने इन अर्थों को स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मण ग्रन्थ अश्व, पुरोडाश आदि शब्दों के कई अर्थ करते हैं। शतपथ सूर्य, अग्नि को अश्व तथा मेघ, अन्न को पुरोडाश कहता है। स्वामी जी ने ब्राह्मण और निरुक्त का प्रमाण देकर इन शब्दों की अवसरानुकूल व्याख्या की यास्क के मर्म को जितनी गहराई के साथ दयानन्द ने आत्मसात् किया था, उतना उनके पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने नहीं किया। मत मतान्तरों तथा अंध विश्वासों की रूढ़ियों से उन्होंने वेदार्थ को मुक्त किया।

स्वामी जी की अधिभूतपरक व्याख्या तो उनकी अपनी सूझबूझ का परिणाम पर आध्यात्मिक व्याख्याओं में उन्होंने उपनिषद् की शैली अपनाई है। बृहदारण्यक ने अन्तर्यामी पर विचार करते हुए याज्ञवल्क्य ने अधिलोक, अधिभूत, अधिदेव तथा अध्यात्मकी शैली अपनाई। यही नहीं 'कतम इन्द्रः स्तनयित्नु इन्द्रः' तथा 'यज्ञ इति पशव' जैसे अर्थ याज्ञवल्क्य ने किये। केनोपानिषद में विद्युत और संकल्प और ब्रह्म बताया गया। तैत्तिरीयोपनिषद् में ज्योतिष, अधिप्रज्ञ तथा दार्शनिक दृष्टि से उपासना विवेचन किया गया। अन्न ब्रह्मेति, प्राणो ब्रह्मेति, मनो ब्रह्मेति जैसे वाक्य इसी आशय से कहे गये हैं। छान्दोग्य में पंचाग्नि महिम्ना, वृषभ, अग्नि, हंस, मद्गु का उपदेश, अधिभूत तथा अध्यात्म दोनों दृष्टियों से वर्णित हुआ है। दहर कमल का स्पष्टीकरण भी अथर्व के मन्त्र 'सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो

इव श्रिताः' के जैसा ही है। संवर्ग का विवेचन करते हुए ऋषि ने 'तौ वा एतौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' तथा 'वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्ग' कहकर अधिभूत तथा अध्यात्म परक व्याख्या की है। उपनिषद् में इत्याधि दैवतम् तथा 'अथाध्यात्मं' घोषणाएं स्पष्ट है। सारांश यह कि स्वामी दयानन्द ने उक्त दोनों शैलियां परिवर्तन के साथ स्वीकार की। अधि दैवत में बहुदेववाद को स्वीकार न करने के कारण अधिभूत तथा अध्यात्म मूलक व्याख्याएं उन्होंने की। अधिभूत परक व्याख्याएं इतने विशद आयाम के साथ उनके पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने नहीं की थी।

अन्त में कहा जा सकता है कि वेद प्रामाण्य के बहुमुखी उद्घोष के लिए उन्हें सृष्टि विद्या तथा ब्रह्म विद्या के विनियोग, वेदार्थ करते हुए करने पड़े। ब्राह्मण तथा उपनिषदों की शैली को उन्होंने आगे बढ़ाया। अश्लील तथा जुगुप्सा व्यंजक अर्थों का परित्याग कर आदर्श गृहस्थोचित मान्यताओं का उदघाटन किया। अधिभूत तथा अध्यात्मपरक व्याख्याएं कर वेद को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रधान जीवन यापन करने वालों का सम्बल बनाया। उन्होंने भाष्य की जो शैली अपनाई वह परम्पराभंजक नहीं, परम्परा का पुनरुद्धार करने वाली थी। राष्ट्रवादी, व्यवहारोपयोगी, मानवतावादी तथा दार्शनिक शैली की दृष्टि से भाष्यकारों में उन्होंने अत्यन्त स्वस्थ परम्परा की खोज की। स्वामी जी इस दृष्टि से बेजोड़ हैं।

□□□

वैदिक संस्कृति के मूल सिद्धान्त

किसी भी राष्ट्र की जनता अपने पुरातन प्राप्त पुरुषों से, पिता पितामह प्रपितामह आदि के महनीय आचरणों से, अथवा कुल परम्परा से जिन आचारनियमों को वैचारिक पद्धति को और व्यवहार-सरणि को अङ्गीकृत करके स्वकीय जीवन में परिणत करती है वह आचार-विचार और व्यवहार की नीति ही संस्कृति कहलाती है। जनता देशकाल और जलवायु के अनुसार ही अपने जीवन निर्वाह के साधन जुटाती है। भोजन छादन, आहार-विहार क्रीड़ा और मनोरंजन आदि सभी देशकाल कीं स्थिति पर निर्भर रहते हैं। मनुष्य की बुद्धि मन शरीरादि का निर्माण देश कालाधीन है। अतः देश काल का प्रभाव बाह्य ओर आभ्यन्तर दोनों ही पहलुओं पर व्यापक रूप से पड़ता है। प्रकृति के उपादानों से जनता का शरीर और मस्तिक संस्कृत (विशुद्ध) होता है। इसी को संस्कृति कहते हैं।

विश्व की समस्त संस्कृतियों में सर्वाधिक प्राचीन वैदिक संस्कृति है। बल्कि यह कहना चाहिये कि भूमण्डल पर उन्नततम और सर्वहितकारी सम्पूर्ण विश्व संस्कृतियों का उद्गम स्थल यह वैदिक संस्कृति ही है। इस संस्कृति के जन्म का श्रेय वेदादि शास्त्रों और भारत भूमि को है। भारत भूमि पर जन्म लेनें वाले वशिष्ठ पाराशर अत्रि भारद्वाज राम कृष्णादि के तपः पूत आचरणों से इस संस्कृति का स्रोत निकला है। 'सगच्छध्वं संवदध्वम्' 'तेत त्यक्तेन भुञ्जीथा, वसुधैव कुटुम्बकम्' 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः धादि पुनीत विचारधाराओं से इस परम पावन संस्कृति का कलेश्वर रचित हुआ है। त्याग तितिक्षा परोपकार सत्यवादिता, दया, दान, दाक्षिण्य

सदाचार धादि उदात्त भावनाओं से इस संस्कृति का पोषण हुआ है। आइये, इस प्रकार की उस महनीय वैदिक संस्कृति की कतिपय विशेषताओं का अवलोकन करें जिसके कारण यह सार्वभौम पद पर प्रति- हो सकती है। महर्षि दयानन्द इस संस्कृत के पुनरुद्धारक है ।

हमारे शास्त्रों का यह डिण्डिम घोष है कि कर्म करो किन्तु फल की कामना से रहित होकर। फल की इच्छा से किया गया कर्म मानव को निरन्तर दुःख की ओर धकेलता है। सकाम करने वाला मनुष्य जन्म मरण के चक्र में फंस कर अपार कष्टों को सहता रहता है। भारतीय संस्कृति में यज्ञ कर्म का उपदेश निष्काम कर्म के लिए ही था। यज्ञ के लिए किया गया कर्म निर्दोष होता है। जिस समय निष्काम कर्म में रुचि उदित होती है। तब मन के रागादि दोष निवृत्त हो जाते हैं। मनुष्य'एक विलक्षण आत्म तोष का अनुभव करता है और जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष का अधिगम सहज ही प्राप्त कर लेता है : श्रुति स्मृति आदि भारतीय ग्रन्थों में निष्काम-भावना की तरंगे उच्छलित होती हुई सी परिलक्षित होती हैं। योगिराज कृष्ण गीता में कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतु र्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्माणि ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! तेरा अधिकार कर्म करने में ही है फल भोगने में कदापि नहीं। इसलिए तू कर्मफल का हेतु मत बन और अकर्मण्यता में भी तेरी आसक्ति न हो।

निष्काम कर्म और आसक्ति राहित्य की यह सम्पत्ति वैदिक संस्कृति की ही देन है। विश्व की अन्य संस्कृतियों में यह विशेषता नहीं है। वे सकाम कर्म में प्रेरित करती हैं। सकाम कर्म में रममाण

रहकर मनुष्म अनर्थ का संचय करता है और जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ से वंचित रहता है।

भारतीय संस्कृति सांसारिक ऐश्वर्यों के भोगों से द्वेष नही करती। "वयं स्याम पतयो रमीणाम्' कहकर धनपति बनने के लिए प्रेरित करती है। वह तो बस इतना ही प्रतिबन्ध लगाती है कि उन भोगों को अनासक्त रह कर भोगा जाए। यह सोचना चाहिए कि यह काम मेरा नहीं है बल्कि भोगने के लिए यह सब कुछ ईश्वर ने दिया है। ईश्वर का ही इस पर अधिकार है। इसलिए अनेकानेक भोग सामग्रियों का वर्णन करके मन्त्र में यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में वेद भगवान चेतावनी देते हैं-

ईशावास्यमिद सर्वं यत्किच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

अर्थात् संसार में जो कुछ भी दिखायी दे रहा है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। इसलिये त्याग भाव से इसका भोग करो। किसी के धन का लोभ मत करो।

इस प्रकार प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति, वर्तमान के साथ भावी जन्म की उन्नति की चिन्ता, स्वार्थ के साथ परार्थ, भोग के साथ वैराग्य, संग्रह के साथ त्याग भाव यही है वैदिक संस्कृति का सन्देश और यही है उसकी महनीयता।

आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य

उपर्युक्त आदर्श की रक्षा के लिये वैदिक ऋषियों ने आश्रम व्यवस्था की स्थापना की थी। हमारे मनीषी ऋषियों की दूर दृष्टि बड़ी आश्चर्य जनक थी। इसीलिये उन्होंने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास

के लिये पहले ही एक वैज्ञानिक पद्धति का अविष्कार कर लिया था। इसी पद्धति का दूसरा नाम है आश्रम व्यवस्था । आओ विचार करें इस व्यवस्था के पीछे ऋषियों का क्या उद्देश्य था—

ब्रह्मचर्य पूर्ण आरोग्य का साधन

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य का महान् महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मचर्य का आपात अर्थ है- वीर्य की रक्षा। ब्रह्मचर्य से न केवल शरीर के बल्कि मानसिक और आत्मिक क्लेशों का भी क्षय हो जाता है। ब्रह्मचारी के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। किन्तु ब्रह्मचर्य की साधना सर्वाधिक कठिन है। समस्त तपो में यह श्रेष्ठतम तप है। इसकी महिमा का पार कोई नहीं पा सका। मृत्यु भी इसके द्वारा विजित की जा सकती है। इसीलिये वेद ने मुक्त कण्ठ ने ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की है— ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत।

ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध इन्द्रिय संयम से है। मन में दिव्य शक्तियों का भण्डार है। किन्तु इन्द्रियों के द्वारा उसकी शक्तियों का ह्रास होता रहता है। इन्द्रियों की बाह्य चारिणी वृत्तियों को अन्दर की ओर से मोड़ देने से मन प्रसुप्त दिव्य शक्तियां जाग उठती है। ब्रह्मचर्य उन्हीं दिव्य शक्तियों को जगाने का मूल मन्त्र है। ब्रह्मचर्य के महत्त्व को सर्व प्रथम भारत ने ही जाना। अतः वैदिक संस्कृति ब्रह्मचर्य वादिनी कहलाती है।

विवाह काम के शासनार्थ

वैदिक संस्कृति विषयोपभोग से उदासीन नहीं है बल्कि उसका कथन यह है कि विषयों का भोग बुद्धि से सम्यक् विचार करके ही करना चाहिये। विचार शून्य होकर विषयोपभोग से शारीरिक और

आत्मिक शक्तियों का ह्रास होता है। शरीर रोगालय वन जाता है और वार्द्धक्य की ओर बड़ी तेजी से दौड़ता है। वैदिक संस्कृति यह अच्छी प्रकार जानती है कि विषय भोग की कामना मानव में स्वाभाविक है अतः वह उसके उन्मूलन का उपदेश नहीं करती बल्कि उसके निग्रह का आदेश देती है। वस्तुतः गृहस्थाश्रम की व्यवस्था ऋषियों से दुर्घर्ष काम वासना के शासन के लिये ही की थी, विषयोपभोग के लिये नहीं। गृहस्थाश्रम के दो ही प्रयोजन थे। प्रथम-सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्त होना तथा दूसरा दुर्दमनीय काम वासना पर अकुंश रखना। यद्यपि काम का अनुशासन अभ्यास और वैराग्य से होता है किन्तु वह मार्ग विशुद्ध अध्यात्म मार्ग के पथिकों का है। समाज में रहने वाले व्यक्तियों के काम का निमन्त्रण विवाह द्वारा ही सम्भव है। काम की विकृति समाज को उच्छृंखल और कुमार्ग गामी न बना दे इसलिय गृहस्थाश्रम की व्यवस्था की गयी थी। किन्तु आज इससे विपरीत आचरण दिखायी देता है। विवाह का उद्देश्य केवल विषय वासनाओं की पूर्ति हो गया है। समाज अपने मार्ग से भटक गया है। वैदिक संस्कृति विस्मृत कर दी गयी है।

वानप्रस्थाश्रम उत्सर्ग के पूर्वाभ्यास के लिये

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था पूर्ण त्याग का पूर्वाभ्यास करने के लिये की गयी थी। यह पृथ्वी यह ऊंचा विशाल भवन, यें अपरिमित ऐश्वर्य, ये सम्बन्धी, पुत्र कलत्र भ्राता भगिनी आदि प्रिय जन, यह कंचन काया सभी कुछ एक दिन छिन जाना है। इनका वियोग अपरिहार्य है। जब यह सब कुछ एक दिन बलात् छूटना ही है तो क्यों न इसे स्वयं ही छोड़ दिया जाये। इसी त्याग- भावना के उद्देश्य से गृहस्थाश्रम के पश्चात् वन में निवास करने का उपदेश वेद में दिया गया है। जब मृत्यु आयेगी उस समय

तो सभी का उत्सर्ग अनिवार्य रूप से करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यही श्रेयस्कर होगा कि मृत्यु से पहले ही मोह का त्याग करके समस्त अनित्य वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़कर आत्मा के उद्धारार्थ मुक्ति का मार्ग पकड़ ले। इसी प्रवज्या के लिये वैदिक संस्कृति में वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश का विधान किया गया है।

वानप्रस्थाश्रम आध्यात्मिक भावना की भूमि है। जिस प्रकार दीपक अन्धकार का विनाश करके प्रकाश बिखेरता है उसी प्रकार वानप्रस्थिता गार्हस्थ्य के अंगारों से तृप्त चित्त के उद्वेग के शान्त करके ज्ञान का संचार करती है। वानप्रस्थी केवल अपना ही उपकार नहीं करता बल्कि अपनी अनुभूति, योग्यता और ज्ञान के आलोक से जनसामान्य का कर्तव्योपदेश द्वारा मार्ग दर्शन करता है। इस प्रकार वैदिक संस्कृति में वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था आत्मश्रेय के साथ-साथ सर्वजन हितकारिणी व्यवस्था है।

सन्यास मुक्ति का हेतु

जीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिये सन्यास को ग्रहण करना चाहिये। सन्यास मोक्ष का द्वार है। जन्ममरण के चक्र से आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तत्त्वज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति सन्यास से होती है।

वर्ण व्यवस्था से समाज की सुख शान्ति

वैदिक संस्कृति के गुण कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को मान्यता दी गयी है। समाज की सुख शान्ति और उत्थान के लिये वर्णव्यस्था की स्थापना की गयी थी। समाज में विभिन्न गुण और

स्वभाव के व्यक्ति रहते हैं। जिस मनुष्य वर्ग में सत्त्व गुण का प्राधान्य रहता है वह इस संस्कृति में ब्राह्मण कहलाता है। जिसमें रजस्तत्त्व अधिक है वह क्षत्रिय है। जिस वर्ग में रजोगुण विशिष्ट तमोगुण है वह वर्ग वैश्य वर्ण में आता हैं तथा केवल तमोगुण विशिष्ट जनसमूह शूद्र वर्ण के अन्तर्गत स्थापित किया गया है। गुण भेद के आधार पर प्रत्येक वर्ण का कार्य भी पृथक् पृथक् निर्धारित किया गया है, किन्तु चारों वर्णो का परस्पर विरोध नहीं है बल्कि परस्पर मिलकर ये समाज का उपकार करते हैं। ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन से और शूद्र सेवा समाज को उपकृत करें, यही इस संस्कृति का सन्देश है।

कर्तव्य कर्म के साथ प्रत्येक वर्ण को कुछ अधिकार भी दिये गये हैं। ब्राह्मण सम्मान का अधिकारीं है, क्षत्रिय शासन का, वैश्य धन का और शूद्र क्रीडा का अविकारी है। अधिकार प्राप्ति से अधिकारी उन्माद ग्रस्त न हो जाये इसके लिये शास्त्रों ने अंकुश के रूप में कुछ कर्तव्य कर्म उपदिष्ट हैं जैसे—

'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।'

अर्थात् ब्राह्मण सम्मान से इस प्रकार डरे जैसे विष से भय लगता है। इसी प्रकार क्षत्रिय भी शासन पाकर मदोन्मत्त हो सकता है। उसके लिये वैदिक संस्कृति में धर्मचर्या का आदेश हो जैसे—

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चा कृतात्मभिः।
धर्माद् विचलिते हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥

अर्थात् दण्डनीति बड़ी तेजस्विनी होती है, किन्तु अजितेन्द्रिय शासक उसको धारण नहीं कर सकते। यदि धर्म से विचलित न होकर

दण्ड का प्रयोग किया जायेगा तो वह राजा को बन्धु सहित नष्ट कर देगा। अतः क्षत्रिय को विचारपूर्वक दण्ड का निर्धारण करना चाहिये ।

वैश्य धन पाकर लोभी और परिग्रही न हो जाये इसलिये दान करने का उपदेश शास्त्रों में दिया गया है—दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः। अर्थात् प्रयत्नपूर्वक वैश्य समस्त प्राणियों को अन्न का दान करे।

शूद्र की शक्ति अल्प है। वह ज्ञान धन और बल से रहित है केवल शरीर से ही वह सेवा कर सकता है। अतः उसे उपर्युक्त प्रतिबन्ध से मुक्त रखा गया है। शूद्र जन्म से नहीं कर्म से है।

भारतीय वर्णव्यवस्था की यही विशेषता थी कि वह गुण कर्म स्वभावके आधार पर निर्धारित होती है। इसका लाभ यही था कि कि यदि कोइ व्यक्ति अपने गुण में परिवंतन या विकास करके वर्ण परिवर्तित करना चाहे तो इसके लिये वह स्वतन्त्र था "शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्" यह कर शास्त्र ने वर्णपरिवर्तन की स्वतन्त्रता प्रदान की है।

हमारे ऋषियों का चिन्तन कितना अर्थपूर्ण था इसका पता इसी से चलता है कि उन्होंने वर्णो का निर्धारण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया था। वे जानते थे कि सम्मान प्रभुता और सम्पत्ति ये तीनों यदि किसी विशेष वर्ग को सौंप दी जायेंगी तो निश्चित ही वह उन्मत्त हो जायेगा और समान का महान् अनर्थ करेगा। इसलिये उन्होंने इनका विकेन्द्रीकरण किया। ब्राह्मण को केवल सम्मान का अधिकार दिया। क्षत्रिय को प्रभुता दी और वैश्य को धनाधिकारी बनाया। इस प्रकार वर्णव्यवस्था की यह रचना संसार की रक्षा के

लिये है। प्रत्येक मानव का यह कर्तव्य है कि वे वैदिक संस्कृति की इस वर्णव्यवस्था को स्वीकार करे।

मानव निर्माण की योजना

विश्व के समस्त राष्ट्र आज अधिकाधिक भौतिक सम्पत्ति के अर्जन की प्रतिस्पर्धा में दौड़े जा रहे हैं। विकास की नयी नयी योजनाएं बनायी जा रही हैं, कहीं पंचवर्षीय और कहीं दश वर्षीय योजनाएं। मनुष्य की पार्थिव वैभव की क्षुधा की शान्ति के लिये ये सब उपक्रम है। किन्तु आधुनिक विज्ञान की शिक्षा ने मानव को उसके अन्तिम लक्ष्य से च्युत कर दिया है। मानवता सर्वथा विस्मृत कर दिया है। सर्वजनहित की भावना को मानो लकवा मार गया है। मानव जितना स्वयं को चाहता है, उतना अपने वर्ग का हित नहीं चाहता। जब वर्गहित की कामना करता है तो समाज को दूर छोड़ देता है। जितना अपने समाज की उन्नति चाहता है उतनी राष्ट्र कल्याण की कामना नहीं करता। यदि अपने राष्ट्र की समृद्धि चाहता है तो परराष्ट्र की सम्पत्ति का ध्वंस करना चाहता है। इस प्रकार वैभव की इस बुभुक्षा ने सर्वत्र ईष्या द्वेष की अग्नि लगा दी है। यह वैदिक संस्कृति नहीं है। यह पाशविकता है, स्वेच्छाचारिता है। वैदिक संस्कृति भौतिक ऐश्वर्य का विरोध नहीं करती। वह तो केवल यह कहती है कि यदि विज्ञान के अविष्कर्ता मानव में मानवता का उद्रेक नहीं हुआ तो इन सम्पत्तियों से क्या लाभ ? भौतिक सम्पत्ति की कामना कभी नहीं भरती। एक इच्छा पूर्ण होती है तो दूसरी फिर उत्पन्न हो जाती है। इसीलिये वैदिक संस्कृति कहतो है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्पति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात् इच्छाओं के उपभोग से इच्छा शान्त नहीं होती। वह तो उसी प्रकार निरन्तर अधिक ही बढ़ती जाती है जिस प्रकार हवि के द्वारा अग्नि और प्रचण्ड होती है।

इसलिये इन भौतिक सम्पत्तियों में अनासक्ति रखने से ही श्रेय हो सकता है। भारतीय संस्कृति का यही उपदेश है। वह मानव का निर्माण करती है। पश्चिमी देशों की संस्कृति मानव का निर्माण नहीं करती। वह खाद्य सामग्री बढ़ाती है, वस्त्रों की सुन्दरता पर ध्यान देती है, विलासिता का समर्थन करती है किन्तु मानवता की ओर आंखे बन्द करके निश्चिन्त है। इसका दुष्परिणाम आज चतुर्दिक् दिखायी दे रहा है। चारों ओर अशान्ति, उद्विग्नता, कदाचार और उत्कोच का नग्न नृत्य हो रहा है। यद्यपि बुभुक्षित और क्षीणोपाय व्यक्ति भी पापी और निष्करुण हो जाते हैं, किन्तु यहां तो इससे विपरीत ही दृश्य दिखायी दे रहा है। प्रचुर भोज्य और भोग्य साधनों के होते हुए भी लोग निन्दनीय कर्मों में रत हैं। पुष्कल धन के होते हुए भी अधिक की प्राप्ति के लिए लोग सहस्रबाहु होकर यत्न कर रहे हैं। इसलिए उक्त पाश्चात्य संस्कृति मानव-कल्याणकारिणी नहीं है।

संस्कारों की संस्कृति

वैदिक संस्कृति षोडश संस्कारों की संस्कृति हैं। गर्भाधान से लेकर अन्येष्टि पर्यन्त षोडश संस्कार मनुष्य के मानस का परिमार्जन करते हैं। इन संस्कारों से संस्कृत होकर मानव जीवनकाल में पवित्र आचरण करता है तो मृत्यु के पश्चात् सद्गति को प्राप्त करता है। प्रत्यक्ष और अप्रयत्क्ष रूप से संस्कारों का प्रभाव मनुष्य की बुद्धि और आत्मा पर पड़ता है। जिस प्रकार मांजने से पात्र चमक उठता है

उसी प्रकार संस्कारों के माध्यम से बुद्धि निर्मल होती है तथा बलयुक्त बनती है। जिस मनुष्य में निर्मल बुद्धि, स्वस्थ और संशय रहित मन तथा बलान् आत्मा निवास करता है, वही विश्व की सेवा कर सकता है। इस प्रकार वैदिक संस्कृति एक सुसंकृत और परिमार्जित मानव का निर्माण षोडश संस्कारों के माध्यम से करती है।

ऐहिकता और पारलौकिकता का समन्वय

वैदिक संस्कृति के रहस्य को अच्छी प्रकार न समझने वाले कुछ आलोचकों का मत है कि "यह संस्कृति कल्पना की भूमि पर निवास करती है। लौकिक क्रियात्मक पक्ष से उसका सम्बन्ध नहीं है।

जिसने भारतीय वाङ्मय का थोड़ा भी अध्ययन किया है वह उक्त आक्षेप की असारता को भली प्रकार समझ सकता है। भारतीय संस्कृति यदि चरणों से पृथ्वी का स्पर्श करती है तो सिर से आकाश को छूती है। परलोक में उसकी आस्था है किन्तु इहलोक से वह उदासीन नहीं है। संसार के कल्याणार्थ, पदार्थ विज्ञान, भूगोल विद्या, ज्योतिष शास्त्र, अर्थ शास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद, वास्तुकला, युद्धविद्या, कर्मकाण्ड, आदि भौतिक विद्याओं का सांगोपाङ्ग विवेचन वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है उसे विद्वज्जन जानते हैं। महाभारत काल के अध्ययन से पता चलता है कि हमारा अन्तरिक्ष विज्ञान और शास्त्र विद्या कितनी उन्नत सीमा पर पहुँच चुकी थी। आर्य-भट्ट के सूर्य सिद्धान्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि खगोल विद्या में हमारे ऋषियों की पहुच सर्वातिशायिनी थी। अर्थ के उपार्जन की ओर हमारी आंखे बन्द नहीं है। हम तो सहस्रहस्त होकर धन संग्रह करने के पक्षपाती हैं। हमारे शास्त्र कहते हैं—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

यही तो वैदिक सभ्यता की महत्ता है कि उसने अर्थ के लिए धर्म को नहीं भुलाया । बल्कि चतुर्विध पुरुषार्थ में अर्थ से पहले धर्म को स्थापित किया है । हमारा अर्थार्जन संग्रह के लिये नहीं होता बल्कि त्याग के लिए होता है । वैदिक संस्कृति में सर्वत्र यही उपदिष्ट है—

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदर संस्थाना परीवाह इवाम्भसाम् ॥

अर्थात् उपार्जित किये हुए धनों के त्याग करने में ही उनकी रक्षा है, जैसे तालाब में स्थित जल के बहते रहने में ही जल की रक्षा होती है ।

इतना सब होते हुए भी यह कहना कि भारतीय संस्कृति कल्पनाओं में उड़ती है नितान्त मिथ्या है । यहां सौ वर्ष से भी अधिक जीने की कामना की गयी है । यह बात दूसरी है कि वह भौतिकता को मूर्धन्य स्थान नहीं देती । प्रधार स्थान तो आध्यात्मिकता का ही है । यदि वह आध्यात्मिकता का परित्याग कर देगी तो उसका मौलिक स्वरूप ही समाप्त हो जायेगा । ऐहिकता में पारलौकिक सत्ता को न भूलना ही तो वैदिक संस्कृति का सन्देश है ।

कर्म प्रधान संस्कृति

भारतीय संस्कृत कर्मवादिनी है । कर्म ही बन्धन में डालता है और कर्म ही उससे मुक्त करता है । कर्म में ही जीवन की सार्थ-

कता है। अकर्मण्यता मृत्यु का दूसरा नाम है। वेद में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की कामना की गई है—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
> एवं त्वभि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ॥

अर्थात् कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त श्रेय का मार्ग नहीं है। ध्यान यह रखना चाहिये कि कर्म मनुष्य में लिप्त न हो जाये।

पुनर्जन्म

वैदिक संस्कृति पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानती है। यदि कर्म प्रधान है तो पुनर्जन्म अनिवार्य है। जो भी शुभ या अशुभ कर्म किया गया है। उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। सभी कर्मों का फल इस वर्तमान जीवन की अल्प अवधि में नहीं भोगा जा सकता। उसके लिये आगामी शरीर धारण की आवश्यकता पड़ती है। इसी-लिये पतंजलि ने कुछ कर्मों को दृष्टजन्मवेदनीय और कुछ कर्मों को अदृष्टं जन्मवेदनीय कहा गया है। गीता भी कहती है— जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च। अर्थात् जिसने जन्म लिया है और मृत पुरुष का जन्म भी अनिवार्य है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त से वैदिक संस्कृति यह सन्देश संसार को देना चाहती है कि मनुष्य को सदैव पुण्य कर्म ही करने चाहिये क्योंकि अशुभ कर्म करने वाला उसके फल दुःख से कभी बच नहीं सकता। "यावत्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् यह हमारी संस्कृति नहीं है।

सदाचार

हमारी यह संस्कृति पवित्र आचरण को महत्त्व देती है। के
ज्ञान भारस्वरूप है यदि उसको जीवन में चरितार्थ न किया जा
अतः ज्ञान से सदाचार श्रेष्ठ है। आचरण से हीन मनुष्य को
पवित्र नहीं कर सकता है। देवता यज्ञ, धन और अध्ययन भी क
चार मनुष्य का उद्धार नहीं कर सकता है। अतः सदाचार
महिमा वैदिक साहित्य में प्रचुरता में जानी गयी है। जैसे—

> आयुः स्वैरं स्रवति वपुषो भिन्नकुम्भादिवाम्भः,
> को विश्वासः प्रहरति कदा क्रूरकर्मा कृतान्तः।
> नान्म पन्था विषयविषतो दूषितो मानवानां,
> कल्याणाय प्रभवति सखे बन्धुराचार एकः॥

अर्थात् आयु इस प्रकार बीत रही है जैसे टूटे हुए घड़े से ज
बहता है। क्या विश्वास है कब क्रूर यमराज आक्रमण कर दे
विषयों के विष से दूषिन सभी अन्य मार्ग मानव का कल्याण नहीं
सकते। केवल सदाचार ही मनुष्य का वास्तविक कल्याणका
बन्धु हैं।

मातृशक्ति का सम्मान

वैदिक संस्कृति की एकसर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि व
नारी जाति को पुरुष के सदृश सम्मान देती है। विश्व के अन्य रा
नारी को पूर्ण सम्मान नहीं देते। यहां "या देवी सर्वभूतेषु मातृरू
संस्थिता तथा यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' इत्यादि कह
नारी के गौरव को स्वीकार किया गया है। मोक्ष प्राप्ति का अधिक
केवल पुरुष को ही नहीं है बल्कि नारी भी उतना ही अधिक
रखती है।

इसके अतिरिक्त वैचारिक स्वतन्त्रता रथा यथार्थवादिता आदि गुणों का समावेश जितना इस वैदिक संस्कृति में है उतना किसी भी संस्कृति में नहीं है। इसका निर्माण राजाओं की वैभव सम्पन्न अट्टालिकाओं में नहीं हुआ। ऋषियों के तपोवन से इसका स्रोत प्रवाहित हुआ। भारत के ही नहीं बल्कि विदेशी विद्वानों के चित्त को भी इसने बलात् आकृष्ट किया। पवन म्लेच्छ यूनान आदि देशों की संस्कृतियां काल के गह्वर में समा गयी, किन्तु वैदिक संस्कृति आज भी विजय वैजयन्ती को फहराती हुई विश्व में फैल रही है।

यद्यपि यह दिव्य संस्कृति अपनी रक्षा के लिये दूसरों पर आश्रित नहीं है, यह अपने अलौकिक गुणों के बल पर यह आकल्प अमर रह सकती, फिर भी परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि आज के इस अशान्ति भ्रष्टाचार ईर्ष्या और युद्ध की विभीषिका से त्रस्त विश्व की रक्षा के लिए इस वैदिक संस्कृति का अधिकाधिक विस्तार हो, जिससे यह धराधाम स्वर्गतुल्य कमनीय और वन्दनीय हो। शमित्योम्।

□□

स्वामी दयानन्द और नारी-शिक्षा

किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के लिए नारी को आधार-शि
के रूप में यदि कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि नारी ही
को सुयोग्य, विद्वान् एवं सूक्ष्मदर्शी नागरिक प्रदान करती है। 'परि
ही मनुष्य की प्राथमिक पाठशाला है।' इस कथन को पूर्ण रू
उचित मानते हुए कहा जा सकता है कि जिस देश की नारी सुशि
वीराङ्गना तथा स्वतन्त्र विचारों की होगी, उस देश के नागरिक
सुशिक्षित, वीर एवं स्वतन्त्र विचार वाले होंगे। जो शिक्षा ब
को माता से प्राप्त होती है तथा संस्कार स्थायी रहते हैं, वह शि
एवं संस्कारों का स्थायित्व किसी अन्य व्यक्ति द्वारा देने में नहीं
सकता अर्थात् माता जो संस्कार अपने पुत्र में 'लोरी' के माध्यम
संक्रमित करती है, वे संस्कार अन्य किसी माध्यम से संक्रमति
पर भी स्थायित्व को प्राप्त नहीं कर सकते। इस तथ्य की पु
मदालसा आख्यान में अलर्कादि के कथानक से भी हो जाती हैं।

इसी बात को संक्षेप में इस प्रकार भी कहा जा सकता है
नारी का मानव समाज में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।
उसकी अवस्था उन्नत नहीं तो सम्पूर्ण मानव जाति के अधोगति
चने का भय है। नारी घर की साम्राज्ञी है तथा घर एक व्यष्टि
उसकी उन्नति एक समाज तथा प्रत्येक समाज की उन्नति से सम
राष्ट्र की उन्नति सम्भव है।1

---

१ वैदिक साहित्य में नारी, प्रशान्त कुमार, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ल

देश की आधार रूपी नारी माता बनकर पुरुष का निर्माण करती है। उसके कर्त्तव्य की पूर्ति आदर्श सन्तान की जननी बनकर सम्पूर्ण सांसारिक रहस्यों को समझा कर कर्म-क्षेत्र में संघर्ष करने के लिए तैयार करके बाहर भेजने में निहित है। नारी के बिना पुरुष की और उससे सम्पूर्ण समाज की प्रगति सर्वथा असम्भव है। मातृ-सुख विहीन बालक प्रायः आवारा, निष्कर्मय और असफल ही दृष्टिगोचर होते हैं। पत्नी के बिना पुरुष की प्रतिष्ठा नगण्य है २ नारी ही जैसा घर का निर्माण करेगी वैसा ही सम्पूर्ण समाज का ढांचा बदल जायेगा।

जिर देश में नारी की शिक्षा तथा सम्मान का वहां के देश वासियों द्वारा ध्यान नहीं दिया जाता, उस देश का भविष्य अंधकार-मय कहा जा सकता है। सम्भवतः इसी लिए मनुस्मृतिकार ने कहा–

"यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"

इस सत्य के प्रति हमारे पूर्वज वैदिक ऋषि अनभिज्ञ नहीं थे, इसीलिए उन्होंने वैदिक-साहित्य में नारी-शिक्षा के प्रति विशेष रूप से बल दिया। ऋग्वेद, 1 हारीत-धर्मसूत्र 2 आश्वलायन-गृह्या सूत्र 3

---

१ समाज में रहने वाले अविवाहित युवक को समाज प्रायः शक की दृष्टि से देखता।

२ भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।
ऋ० १०-१०९-८

३ तत्र ब्रह्मवादिनीनाम् उपनयनम् अग्नीधम् वेदाध्ययनम् स्वगृहे भिक्षाचर्येति। हारीत धर्मसूत्र २१.२२)

४ आश्वलायन गृह्यसूत्र-१.९, ३.८.११,

कर्म-प्रदीप, 4 गोभिल-गृह्य सूत्र, 5 तथा मनु- 6 स्मृतिकार स्पष्ट रूप से कन्या के उपनयन संस्कारोपरान्त शिक्षा प्रदान करने की आज्ञा देते हुए नारी शिक्षा के प्रति अपनी प्रबल स्वीकृति प्रकट करते हैं क्योंकि उपनयन के पश्चात् ही स्त्रियां अनेक कठिन कार्यों (विद्या-प्राप्ति आदि) को करने में समर्थ सिद्ध होती हैं।

हारीत-धर्मसूत्र तो यहां तक कहता है कि—"नारी की शिक्षा-दीक्षा" पुरुष की शिक्षा-दीक्षा से भी अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। 6 मनुस्मृतिकार उपनीता कन्या के लिए सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान-राशि के भण्डार वेदों के अध्ययन का उपदेश देते हैं। 8 इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, 10 तथा निघण्टु 11 में भी नारी के लिए भाषा-प्रयोग-विद् एवं भाषा-मर्म-विद् कहकर नारी की शिक्षा की आवश्यकता प्रदर्शित की गयी है।

इतना ही नहीं भाषा के मर्म को भली-भाँति समझकर समाज के लिए उसका प्रयोग करने वाली अनेक नारियों के नाम भी वैदिक-

---

४— ततः शक्ततमा पश्चादसमान्यतमाऽपि या।
उपेतानां चान्यतमा मन्येदग्नि निकामतः॥ कर्मप्रदीप १.८.८

५— यज्ञोपवीतिनाचान्तो दकेन कृत्यम्। गोभिल गृह्य सूत्र १.१.२

६— उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। मनु० २.६९

७— न हि शूद्रयोनौ ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्या जायन्ते तस्माच्छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः। हारीतधर्म सूत्र भूमिका

८— वेदानधीत्य वेदो वा वेदं वापि यथाक्रमम्। मनु० ३.२

९— शतपथ ब्राह्मण—७.५.१.३१, ११.२.४.९, १२.९.१.१३

१०— ऐतरेय०—३.२।

११— निघण्टु—२.११।

साहित्य के साथ सम्बद्ध हैं। लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २३ वें अनुवाक के १९७ वें सूक्त का दर्शन किया था। बृहद्देवता में ऋग्वेद की उन ऋषिकाओं की सूची का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने वैदिक मन्त्रों का दर्शन किया । 1 कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक साहित्य में नारी की शिक्षा का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसकी आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया गया।

इन्हीं सब बातों पर सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करते हुए वैदिक धर्म के पोषक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी समाज से लिए स्त्री शिक्षा को, सत्यार्थ का प्रकाश करने वाले अपने प्रसिद्ध एवं मौलिक ग्रन्थ (सत्यार्थ प्रकाश) में अत्यन्त आवश्यक माना– तद्नुसार–

"जन्म से पाँच वे वर्ष तक के बालकों को माता तथा छः से आठवें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९ वें वर्ष के प्रारम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके जहाँ पूर्ण विद्वान् तथा पूर्ण विदुषी स्त्री, शिक्षा और विद्या-दान करने वाली हो वहाँ लडके तथा लडकियों को भेज दे। (सत्यार्थ प्रकाश-द्वितीयस मुल्लास)

स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द जी ने पुत्र एवं पुत्री दोनों के लिए शिक्षा की समान आवश्यकता पर बल दिया। साथ ही वे इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भी परिचित थे कि– माता से जो शिक्षा पाँच वर्ष तक शिशु को प्राप्त होगी वह स्थायी रहेगी। माता के समीप

१– इन्द्राणी चेन्द्रमाता च, सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च, यमीनारी च शश्वती॥
श्री लक्ष्मीः सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेघा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री, ब्रह्मवादिन्य दूरिताः॥
२४.८५.८६ बृहद् देवता

शिशु की प्रारम्भिक-शिक्षा के निर्धारण में दो कारण मुख्य प्रतीत होते हैं— प्रथम, इस काल में ममत्व तथा दुग्धपानादि के कारण शिशु को माता की अधिक आवश्यकता होती है। यदि शिशु को माता का ममत्व प्राप्त न हो तो वह चिडचिडा हो जाता है तथा जीवन में एक अभाव का अनुभव करता रहता है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि माता के प्यार के अभाव में बहुत से शिशु भयंकर अपराधी बन गये या फिर पागल हो गये। इसके अतिरिक्त दुग्धपान से तो प्रारम्भिक काल में शिशु का जीवन ही चलता है।

द्वितीय, प्रारम्भिक पाँच वर्षों में शिशु का मस्तिष्क कोरी स्लेट के समान होता है। उस पर जो संस्कार जिस रूप में चित्रित किये जाएँ, उन्हें शिशु अपने सम्पूर्ण जीवन काल में उसी प्रकार धारण किये रहता है। महात्मा गाँधी पर भी सत्यवादी हरिश्चंद्र की कथा तथा श्रवण वृत्तान्त का जो प्रभाव व चयन में देखने तथा सुनने से पड़ा, वह सम्भवतः युवावस्था में देखने से न पड़ता।

तदनन्तर स्वामी जी ने कन्या के भी उपनयन संस्कार पर जोर दिया है। उपनयन की आवश्यकता और महत्त्व के विषय में हम प्रारम्भ में ही विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं। स्वामी जी की सम्मति में उपनयन के पश्चात् ही शिक्षा-प्राप्ति हेतु गुरुकुल में भेजना चाहिए।

शिक्षा-काल में बच्चों को ताडन करने के सम्बन्ध में स्वामीजी ने पक्ष में अपने विचार प्रस्तुत किये तथा व्याकरण महाभाष्य के वचनो को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है—

सामृतैः पाणिभिध्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिनो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणः॥

(सत्यार्थ प्रकाश-द्वितीय समुल्लास

अर्थात् जो माता-पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों को ताडन करते हैं वे मानो अपनी सन्तान और शिष्यों को मानो अपने हाथ से अमृतपान करा रहे हैं। किन्तु जो सन्तानों तथा शिष्यों का लाड़न करपे हैं वे अपने सन्तानों तथा शिष्यों को विष पिलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं क्योंकि लाडन से सन्तान और शिष्य दोष युक्त तथा ताडन से गुण-युक्त होते हैं।

किन्तु इस विषय में स्वामी जी ने यह स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया कि यह कथन पुत्र-शिष्य के लिए कहा गया है अथवा पुत्री शिष्या के लिए भी, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि गुरुकुलीय व्यवस्था के अनुसार स्त्री अध्यापिकाएं त्रुटि होने पर अपनी शिष्या का ताडन कर कर सकती हैं। उक्त कथन का यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि स्वामी जी शिशुओं के मात्र ताडन में ही विश्वास करते हैं, अपितु आवश्यकता पड़ने पर वे इसके पक्षपाती है, यह अर्थ मानना चाहिए।

शिक्षाकाल में कन्याओं को आभूषण धारण करने के सम्बन्ध में भी स्वामी जी ने अपनी असहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार—

"स्वभाव रूप आभूषण ही कन्याओं को धारण करना चाहिए। आभूषणों को धारण करने से ही केवल देहाभिमान, विषयासक्ति, चोरादि का भय तथा मृत्यु की भी सम्भावना है। (तृतीय समुल्लास)

स्पष्ट ही स्वामी जी चरित्र निर्माण के पक्ष में है नारीं की शोभा आभूषणों से नहीं अपितु सच्चरित्र एवं सदाचरण से है।

इसके अतिरिक्त स्वामीजी सहशिक्षा के पक्ष भी नहीं हैं। उनके मतानुसार—

"लड़कों लड़कियों की तथा लड़कियों तथा लड़कि
लड़कों की शाला में भेज देवें, लड़के तथा लड़कियों की पाठ
एक दूसरे से कम से कम दो कोस की दूरी पर हों।"

(सत्यार्थ प्रकाश—तृतीय समुल्

स्वामीजी के इस कथन पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार क
आजकल सह-शिक्षा के कारण हमारे समाज में जो दोष घुन के
खाये जा रहे हैं, जिन अव्यवस्थाओं एव चारित्रिक पतन का
को सामना करना पड़ रहा है, स्वामी जी ऋषि-दृष्टि ने उन
पूर्वाभास किया था।

मनु-स्मृतिकार भी पुरुष व नारी की इस दुर्बलता से प
थे। तभी उन्होंने यौन-विकारों की ओर इंगित करते हुए कहा

"रूप और आयु का विचार किये बिना ही ये (पुरुष
भोग में प्रवृत्त होते हैं।[1] नारी चञ्चल चित्त के कारण अपने
से भी विकार कर बैठती है।

मनु ने तो स्त्रियों की तरफ आंख उठाकर देखने तक क
निषेध किया है।[3] इसमें कोई सन्देद नहीं कि अज्ञानी म
अज्ञानान्धकार के कारण घृणित से घृणित कार्य कर सकता है
इन्द्रियां हीं मनुष्य से नीचतापूर्ण कार्य कराती हैं। अपनी सगी म

---

१ नैता रूपं परीक्षन्ते जासां संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥ मनु० ६.१४.
२ पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते॥ मनु० ६.१५
३ स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ मनु० २.१७६

हन यहां तक की लड़की[1] आदि किसी का भ विचार न करके नुष्य कामावेश में नीचता पर उतर सकता है। सम्भवतः इसीलिए नु ने इनके साथ भी बैठने का निषेध किया है।[2]

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि यदि कोई मनुष्य अथवा रुष के साथ वार्तालापादि अथवा चिन्तनादि करता है तो उसके वचेतन मन में स्वप्नावस्था भी उसके साथ आमोद-प्रमोद की वृत्ति ागृत होती है। इससे स्नायविक रोग उत्पन्न होते हैं। परिणामतः ान-प्राप्ति का उद्देश्य अपूर्ण रह जाता है।

ऋग्वेद भी पुरुषों को स्त्रियों के चरण में देखने की ही आज्ञा प्रदान करता है।[3] सहशिक्षा में ऐसा होना प्रायः असम्भव है। अतः स्वामी जी ने इस मनौवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करते हुए सहशिक्षा का विरोध किया। इतना ही नहीं उनकी सम्मति में तो—

"जो वहां अध्यापिका और अध्यापक अथवा भृत्य, अनुचर हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री तथा पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जाने पाये।"

(सत्यार्थ प्रकाश—तृतीय समुल्लास)

---

१ देखिये पंजाब केसरी, दैनिक समाचार-पत्र, पृ० २, कालम ४ पर, २८ सितम्बर १९८३।

२ मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ मनु० २.२१५

३ अधः पश्यस्व मोपरि सं तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविय॥८.३४.१९

यद्यपि इस प्रकार की विचारधारा अधुनिक बुद्धि
मस्तिष्क भी अति कह कर स्वामी जी की आलोचना कर सक
किन्तु इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि जहां दूर-दू
कोई नारी दिखायी न दे, उस वातावरण में आकस्मात् यदि क
वर्ष की कन्या भी चली जाए, तो उसकी ओर पुरुष-हृदय का आ
होना स्वाभाविक है।

संक्षेप में स्वामी जी नारीं के शिक्षा-काल में एकान्त सेवन
पक्षपाती हैं। इन सब बातों के पीछे स्वामी जी की भावना नारी
चरित्र-निर्माण की ही प्रतीत होती हैं, क्योंकि यदि माता का च
उज्जवल होगा तो सन्तातित भी सुयोग्य एवं चरित्रवान् होगी।

इसीलिए स्वामी जी ने दर्शनादि आठ मैथुनों से भी उन्हें
रहने का उपदेश किया।

जब तक वे ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक पुरुष का दर्शन, स्पर्श
एकान्त सेवन, भाषण, विषय-कथा, परस्पर-क्रीड़ा, विषय का ध्या
और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहे।

(तृतीय समुल्लास)

महर्षि वशिष्ठ ने भी कन्या को इस काल में 'अस्पृष्ट-मैथुन
कहकर सभी मैथुनों से रक्षित रहने का आदेश दिया है।[2] इस
अतिरिक्त ऋग्वेद[3], अथर्ववेद[4], मनु[5], गौतम[6] आदि ने भी नारी

---

२ वशिष्ठ ८.१.।

३ ऋग्वेद १.४८.१२.।

४ अथर्व — काण्ड १४।

५ अविलुप्त ब्रह्मचर्यः मनु० ३.२.।

६ गौतम ४.१.।

लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का ही उपदेश किया है।

इतना ही नहीं स्वामी जी ने शिक्षा-काल में ब्रह्मचारिणी तथा ब्रह्मचारी दोनों के लिए कुछ बातों का प्रबल-रूप से निषेध किया–

मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री तथा पुरुष का संग, खटाई, प्राणियों की हिंसा, अंगों का मर्दन, आंखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या द्वेष, नाचना, गाना, बाजा बजाना, निन्दा, मिथ्या-भाषण, दूसरों की हानि आदि कुकर्मों का पूर्णरूप से परित्याग कर दें। (द्वितीय समुल्लास)

यहां स्वामी जी ने प्रकाशान्तर से आधुनिक प्रसाधनादि का भी नारी के शिक्षा काल में निषेध कर दिया है।

स्वामी जी की सम्मति में शिक्षा की व्यवस्था चाहे वह लड़कों की हो अथवा लड़कियों की शहर से बाह दूर होनी चाहिए। नगरों के कुप्रभाव से स्वामी जी परिचित थे, इसीलिए सम्भवतः शहरों से दूर गुरुकुलों की स्थापना में स्वामी जी ने अपनी सहमति दी।

इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने कन्याओं की शिक्षा की अनिवार्यता का भी प्रतिपादन किया। उनके मत में इस नियम का कठोरता पूर्वक पालन किया जाना चाहिए। तदनुसार—

"इसमें राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवे अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़के और लड़कियों को घर में न सकें, पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।"

(तृतीय समुल्लास)

इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी नारी शिक्षा के सम्बन्ध में कितने अग्रिम एवं जागरूक विचारों के थे। वे नारी शिक्षा की आवश्यकता के महत्त्व को समझते थे।

स्वामी दयानन्द जी के मत में लड़कों के साथ ही लड़कियों को भी गायत्री-मन्त्र का अर्थ सहित उपदेश, सन्ध्योपासन, स्नान, आचमन प्राणायाम आदि योगाभ्यास की क्रियाओं की भी शिक्षा दी जानी चाहिए।

इसका कारण सम्भवतः यही प्रतीत होता है कि सुशिक्षित माता ही अपनी सन्तति में इन संस्कारों का आधान कर सकती है। इन सब क्रियाओं से सन्तति निरोगी होगी फलतः राष्ट्र निरोगी होगा।

शिक्षण-काल में ही स्वामी जी ने व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा पर भी बल देते हुए कहा— कि "भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करते का भी उपदेश करें।"

(तृमीय–समुल्लास)

स्पष्ट है कि स्वामी जी नारी के लिए केवल पुस्तकीय ज्ञान के ही पक्षपाती नहीं थे अपितु उनकी सम्मति में गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व ही उसे इन सब बातों का व्यवहारिक ज्ञान भी होना चाहिए कि उसे किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, वह किस प्रकार भोजन करे तथा किस प्रकार से छोटे-बड़ों के साथ व्यवहार करे आदि-२। ऐसा होने से वे सब समाज की उपहास की पात्र नहीं होगी। इतना ही नहीं उनके मत में— बाल्यावस्था में ही संतानों के हृदय में मिथ्या बातों के विषय में भी उपदेश कर दो चाहिये क्योंकि इससे विशेष रूप में नारी भूत-प्रेत आदि पाखण्ड से ठगने वाले धूर्तों के भ्रम-जाल में पड़कर कष्ट का अनुभव नहीं करेंगी।

(द्वितीय-समु०)

स्वामी जी के नारी-शिक्षा-विषयक विचारों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने नारी के सर्वांगीण विकास

के लिए शिक्षा के व्यवहारिक पहलू पर अधिक जोर देते हुए यथार्थ आचरण, सत्यविद्याओं, वेदादि शास्त्रों का बाह्येन्द्रियों से रोककर, मन की वृत्ति को दोषों से हटाकर, अग्निहोत्र, अतिथि-सेवा एवं मानुषी व्यवहार करते हुए अध्ययन करने का उपदेश किया।

अत: उनकी दृष्टि में शिक्षा काल में नारी को त्याग और तपस्या की मूर्ति बनकर ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, तभी वह एकाग्रचित्त से ज्ञानार्जन कर सकती है और तदनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके समाज व राष्ट्र के लिए सुयोग्य सन्तति प्रदान कर सकती है। संक्षेप में स्वामीजी शिक्षा के माध्यम से देश को एक चरित्र संपन्न अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति जागरूक नारी देने की योजना प्रस्तुत करते हैं।

इसीलिए 'स्त्री नाधीयातामिति' वचनों की अप्रामाणिक सिद्ध करते हुए यजुर्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] के प्रमाणों द्वारा नारी शिक्षा के पक्ष में ही अपना प्रबल तर्क एवं समर्थन देते हैं।

□□

---

१ यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। यजु० २६.२

२ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानंविन्दते पतिम्। अथर्व—२.२४.११.१८.

वैदिक जलविद्या

वैचित्र्यमावहति खलु परमात्मनः सृष्टिरियम् । अत्र हि
किञ्चिद्दृष्टिगम्यं किञ्चिच्च श्रोत्रगम्यम् । यथा दृश्यं जगद् विलोक्य
जनाः संसारे ज्ञानिनो भवन्ति तथैव केचन् विप्रा अत्र वेदान् सँश्रुत्या-
धिगत्य च विद्वांसो भवन्ति । मानवः संसारे वसति सर्वः संसारः
परमात्मना मानवाभ्युदयार्थं निर्मितः । जगतः सर्वमपेक्षितं वस्तु जातं
ज्ञानेन प्राप्नुयात् पुमान् इत्यार्थं परमात्मना वेदज्ञानं प्रदत्तम् । वेदेषु
सर्वाः सत्यविद्या बीजरूपेनावस्थिताः । अत एव सर्वज्ञानमयो वेद
इत्युदीर्यते । ऋषिप्रवरस्तु दयानन्दः सर्वबुध जनवन्दितं वेदानामिद-
मद्भुतं निर्वचनं विधाय साधयति वेदानामलौकिकत्वम् । श्रीमद्दया-
नन्दोऽत्र धातु चतुष्टयेन वेदशब्द निर्मितिमातनोति-यथा विद् (ज्ञान)
विद् (सत्तायाम्) विदलृ (लाभे) विद् (विचारणे) एतभ्यो "हलश्च"
इति सूत्रेण "करणाधिकरणयोरिति" घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः
साध्यते । विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति, विदन्ति विन्दन्ते लभन्ते
वा विन्दते विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा
विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः । ऋग्वेदादि भा. भू. । लोकोऽयं भाव-
मयोऽपि भाति तथैवा भावमयोऽपि च । यद्यत्र सर्वमभीप्सितं वस्तु
जातं लभ्यते तदा तु भावमयोऽन्यथा त्वभावमय एव । मानवाः
कदापि जीवने कथमप्य भावापन्नाः सुखविहीनाश्च मा स्युरित्यर्थमेव
वेदज्ञानस्य क्रियते प्रायशः प्रचार प्रसारश्च ।

लोके कदापि जनानां पुण्य कर्म पाक वशाद् देवो न वर्षति ।
विलुप्तासु समुत्पद्यते प्राणधरस्य जलस्यान्नस्य च सुमहान संकटः ।
एवं संकटापन्नानां प्राणिनां प्राणाः शरीरादुत्क्रान्ता इव भवन्ति । एवं

विधः संकटकालः कदापि मानव जीवने न प्रभवेददित्यर्थं यथाकालं पर्जन्यवर्षणाय केऽप्युपाया वैदिक वाङ्मये प्रदृष्टाः। "आपो वा इद-मग्र आसीत" इदमौपनिषदिकं वाक्यं जलतत्त्वस्य प्राथम्यं प्राधान्यञ्चा-भिव्यनक्ति। स्थूलतामापन्नं दृश्यमानं जलं यद्यपि--

मैत्रावरुणकार्यरूपं विद्यते तथापि सर्गारम्भावसरे उपनिषन्नि-वेद्यमानं यन्मौलिकं तत्त्वभूतं ललं तन्तु कार्यरूपाज्जलाद्भिन्नमेव। सर्गारम्भस्य मौलिकं तत्त्तं जलसलिलकुहकाम्भोभिः शब्दैर्निगद्यते। वेदैः "सरिरं छन्दः" इत्युदीर्य सलिलस्योखण्ड ब्रह्माण्डाच्छादकत्वं स्वीकृतम्। "समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत" इतिश्रुत्यनुसारं सलिलमेव पूर्वावस्थायां वर्णितम्।

अन्तरिक्षस्थं समुद्रं भूस्थञ्च समुद्रं विलोक्य ज्ञायते यद्ब्रह्माण्ड-ममितः समुद्रो विद्यते। अन्तरिक्षवर्तिनः समुद्रस्य रचनायां ऊर्ध्व-वर्तिनां जलानां पृथिवीस्थ जलानांश्च सततं सम्मिश्रणं भवति। अन्त-रिक्षोपरिष्टाज्जलांशा अन्तरिक्षमभि प्रविश्यान्तरिक्षस्यं समुद्रं निर्मान्ति परमन्तरिक्षस्थस्य समुद्रस्य गोचरता तदैव भवति यदा निजा-कर्षणाकृष्टैर्भूमिस्य जलकणैरात्मानं संयोज्य पर्जन्यरूपेण घनतामा-याति। सघनः पर्जन्य एव धारा संपातेन भूमिप्रपतन् वृष्टिरूपमा-कलयति। पर्जन्याभावे समग्रं भूतलं नीरसं निःसस्यं च जायते। वेदेषु प्रतिपदं पर्जन्योच्छा कृता यथा-"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु" यजुर्वेद २२, २२ "पर्जन्योऽभिवर्षतु" यजुर्वेद ३६, १०।

निःसंशयं वृष्टिरियमाह्लादरूपा मातेव रक्षति, पितेव पाति भ्रातेव भाति, कान्तेवाकर्षतिच। यदा खलु वृष्टेरभावो जायते प्रच-ण्डमार्तण्ड मयूखैरविश्रान्तं तप्तं भूमण्डलं भवति तदा सर्वे जना मुषिता इव, लुण्ठिता इव, विघूर्णिता इव, निराकृता इव प्रपीडिता इव, गता-

सर्वं इव भवन्ति । परं दृष्टिपथमुपगते पर्जन्ये वर्षति च देवे सर्वे
प्रत्यागत प्राणा इव, प्रफुल्लवदना इव पूर्णेच्छा इव, फलितोद्यमा
हर्षोच्छ्वसिता इव स्वास्था इव च दृश्यन्ते । यथाकालं देवो
इत्यर्थं वैदिक ग्रन्थेष निरुपिताः केचन् सदुपायाः । तत्र पर्जन्योत्पाद
यज्ञानामतितरां महत्त्वं प्रतिपादितम् । अत एव समग्रकर्मकाण्डप्र
यज्ञमूला एव ।

यजुर्वेद यज्ञस्य "वर्ष वृध्दम" विशेषणं दत्त्वा वृष्टि हेतुत्व
पात्तम् यथा– "वर्षवृध्दमसि प्रतित्वा वर्षवृध्दं वेत्तु" यजुर्वेद १.१

अत्रेदमाकूतं यद् वृष्ट्यर्थं तूनं यज्ञोविधेयः । यजुर्वेदे मित्राव
द्वौ देवौ वष्ट्यर्थमतितरां संस्तुतौ । प्रस्तुतयोद्रमयोर्देवयोर्नूनं पर्ज
वर्षणे हेतुत्वम् । यथा– "वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वाऽदित्येभ्यस्त्वा
नाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्" । यजुर्वेद २.
जलं बहुषु रुपेषु स्वकीयां स्थितिमातनोति दृश्यमानस्य जलस्य
भेदास्तत्र यजुर्वेदे वर्णिताः । यथा– अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहोद
स्वाहा तिष्ठान्तीभ्यः स्वाहा स्रवन्तीभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्
कूप्याभ्यः स्वाहा सूधाभ्यः स्वाहा धार्याभ्यः स्वाहा अर्णवाय स्
समुद्राय स्वाहा सरिराय स्वाहा । यजुर्वेद २२.२५ ।

१– आपः—आपस्तु जलानि भवन्ति, आप्नुवन्ति सर्वान् व्या
तिष्ठन्तीति आपः । यज्जलं सर्वत्र वायौ व्याप्तं भवति तत्कृते
शब्दस्य प्रयोगः क्रियते । आपो वै प्राणाः प्राणानामाधार भूमिमाप
गताः । जलस्य सूक्ष्मतमो भागः प्राण इत्युदीर्यते यथोपनिषदि
पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यःस्थविष्ठोधातुस्तन्मूत्रं भवति योम
स्तल्लोहितम् योऽणिष्ठः सः प्राणः । छान्दोग्योपनिषद् ६.
ऋषिवरानुसारं तु आपः- जलानि, वाऽऽनुवन्ति शब्दोच्चारणादि
वहारान् याभिस्ता आपः प्राणाः । "आपः" इत्युदकनामसु प

निघं० १.१२। आप इति पवनामसु पठितश् निघं० ५.३। आभ्यां प्रमाणाभ्यामप शब्देनाऽत्रोदकानि, सर्वं चेष्टाप्राप्तिनिमित्तत्वात् प्राणाञ्च गृह्यन्ते। अपामस्ति जीवने कथमप्यनपहेयं महत्त्वम्। मानवानां प्राणाः प्रतिष्ठिता भवेयुरित्यर्थं सर्वदैवापामपांसुलतापादनाय यज्ञादिकर्मनिरता सर्वे जना भवन्तु।

२– वारि– वारयति दूरीकरोति रोगान्, अर्थात् भेषजरुपापन्नं रसायनीभूतं जलं वारि पदेन व्यवह्रियते।

२३ उज्दकम्– आर्द्रायितुं यज्जलादानं तदुदकमुच्यते। पुनञ्च, उत्खननादिभिरधः प्रदेशादूर्ध्वमागतं जलमुदकमुच्यते। अथवा उनत्तीति, उदकमिति। निघंण्टुः।

४– तिष्ठन्ती– अविचलितरुपेण कस्मिञ्चिदपि स्थाने संस्थितं जलं तिष्ठन्ती पद वाच्यम्।

५– स्रुवन्ती– निरन्तरं परिस्रुवतामुपगानि जलानि स्रुवन्ती पदज्ञेयानि।

६– स्यन्दमाना– यानि जलानि सप्रवाहं प्रवहन्ति न कदापि जायते मनागप्यवरोधस्तेषां प्रवाहे, तानि जलानि स्यन्दमानापदपठितव्यानि।

७– कूप्या– कूपादिभ्यो निःसृतानि जलानि कूप्याः।

८– सूद्या– निर्झराणां जलानि सुष्ठु उद्गच्छन्ति उत्प्लुतिपूर्वकं गच्छन्ति अत एव सूद्याः।

९– धार्या– यानि जलानि अञ्जिलजरकुम्मादि पात्रगतानि भवन्ति तानि धार्यापद ज्ञेयानि।

१०– अर्णव– यज्जलं पृथिवीसागास्थं तदर्णव इत्युदीर्यते अर्णांसि बहून्युदकानि विद्यन्ते यस्मिन् सोऽर्णवः समुद्रः ।

११– समुद्र– अन्तरिक्षस्थं जलं समुद्र शब्द वाच्यं भवति समुद्रवन्त्यापो यस्मात्रदन्तरिक्षम्, समभि द्रवन्त्यापी यस्यिस्तदन्तरिक्षम् ।

१२– सरिरम्– वायुमिश्रितानि यानि जलानि तानि सरिरम् पदप्रोक्तव्यानि, वायुमाश्रित्य सरन्तीति, अत एव सरिरम् कमनीय जलं भवति । एवं वेदेषु यत्र जलानां भेदाः परिगणिता यत्र च पर्जन्य-वर्षणोपायाः संवर्णिता स्तथैव तत्रातिवृष्टिमपि वारपितमने के प्रकाराः प्रदर्शिताः । यथा "विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व" एतेन प्रतीयते यह वैदिक वाङ्मये जलममिलक्ष्य जलविज्ञानमतितरां प्रथितमांस्ते । यास्काचार्येण स्वकीये ग्रन्थे एकोत्तरशत-संख्याऽख्यातव्यानि उदकनामानि पठितानि । तत्र सर्वाण्यपि वैज्ञानिक् दृष्ट्या विवृत्तिं कामयन्ते।

□□□

ऋषि दयानन्द और शिक्षा प्रणाली

१ ऋषि दयानन्द ने मानव जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली सभी समस्याओं पर विचार किया है और वेद तथा वेदानुकूल अन्य शास्त्रों के आधार पर उन समस्थाओं के इस युग के लिये सत्य और अनुठे समाधान अपने "सत्यार्थ प्रकाश" आदि ग्रन्थों में उस्थित किये हैं। विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने जो विचार और समाधान दिये हैं यदि उनके अनुसार मानव का जीवन बीतने लगे तो धरती स्वर्गधाम बन सकती है और मनुष्य के व्यक्तिगत और समाजिक सब प्रकार कष्ट कलेश दूर होकर वह उन्निर और सुखसमृद्धि की चरमसीमा पर पहुंच सकता है।

२ शिक्षा की समस्या मानव की एक बहुत बड़ी समस्या है। मनुष्य का सब कुछ उसकी समस्या पर निर्भर करता है। मनुष्य का व्यक्तिगत और समाजिक जिवन किस प्रकार का होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा देते हैं। ऋषि दयानन्द शिक्षा के सम्बन्ध में भी सर्वथा नये और निराले विचार दिये हैं। शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हुए सबसे बड़ा प्रश्न यंह उपस्थित होता है कि बालकों की शिक्षा संस्थाएं किस प्रकार के वातावरण में हों, शिक्षण और शिक्षकों के सम्बन्ध किस प्रकार के हों, बालकों को पढ़ाया जाये, बालकों का रहन-सहन तथा दिनचर्या किस प्रकार की हो और राष्ट्र के प्रत्येक बालक को बिना किसी भेद भाव के ऊंची से ऊंची शिक्षा मिल सके। इसके लिये क्या यवस्था की जाये। ऋषि ने शिक्षा विषयक सभी समस्याओं पर

अपने ग्रन्थों में विस्तार से विचार किया है। ऋषि के इस सम्बन्ध में जो विचार है उनका अति संक्षिप्त उल्लेख हम इन पंक्तियों में कर रहे हैं।

३ शिक्षा संस्थाओं को नगरों से दूर प्राकृतिक सौन्दर्य से दूर स्थानों में बनाई जानी चाहिए। जहाँ स्वाभाविक प्राकृतिक सौन्दर्य न हो वहाँ सुन्दर लता, वृक्षादि लगा कर शिक्षणालय के स्थान को हराभरा और शोभाशाली बना लेना चाहिए। जिसमें बालकों का शारीरिक स्वास्थय भी ठीक रहे और मानसिक भी। बच्चों को नगर का धुंआ, धूल धक्कड़ और दुर्गन्ध से भरी हवा में साँस न लेना पड़े और वे नगर निवासी गृहस्थाओं के शान शौकत तथा शृंगार से भरे जीवन से भी पृथक् रहे और इस प्रकार गृहस्थियों के विलासमय जीवन को देखकर कच्ची उमर में ही उनके मन में विलास प्रियता के निकम्मे विचार न उठने लगे। बालक शिक्षा समाप्ति से पूर्व नगरों में अपने घरों में नहीं जा सकेंगे। ये चौबीस घण्टे अपने गुरुकुलों कु साथ शिक्षा-संस्थाओं के आश्रम में ही रह सकेंगे।

४ गुरु और शिष्य एकान्त में रहेंगे। शिष्यों के चौबीस घण्टों के जीवन पर गुरुओं की आँख रहेगी। गुरु शिष्यों के साथ रहकर उनके जीवन का निर्माण करेंगे। गुरु लोग शिष्यों को उनके हाल पर छोड़ कर नगरों में रहने के लिये नहीं जा सकेंगे। गुरुओं का अपने शिष्यों के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध होगा जिकना माँ को अपने गर्भ में पड़े बच्चे के साथ होता है। माँ को अपने गर्भ में स्थित बच्चे के प्रति जितना प्यार और हित कामना होती है उतना ही प्यार और हित कामना गुरु में शिष्प के प्रति होनी चाहिए। माँ की अपने गर्भ में स्थित बच्चों के प्रति जितनी एकात्मकता होती है उतनी ही एकात्मकता गुरु की शिष्य के प्रति होनी चाहिए। जिस प्रकार माँ के गर्भ

में स्थित गच्चे पर माँ के अतिरिक्त बाहर का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ सकता, उसी प्रकार गुरुओं के अतिरिक्त शिष्यों पर बाहर के लोगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। गुरु लोग बाहर के जिन लोगों का व्याखान आदि के लिये बुलाना आवश्यक समझें उन्ही का प्रभाव उन्हीं पर पड़ना चाहिए। जिस प्रकार मां को अपने गर्भ में बच्चे को सब प्रकार से श्रेष्ठ और बढ़िया बनाने की ही चिन्ता रहती है उसी प्रकार गुरुजनों को अपने छात्रों को सब प्रकार से श्रेष्ठ और उत्तम बनाने की चिंता रहती है।

जब गुरुओं की शिष्यों के साथ इतनी गहरी घनिष्ठता होगी और वे शिष्यों की मां की तरह हित कामना करेगें तो शिष्य उनकी आज्ञाओं का पालन करेंगे और छात्र में आज की सी अनुशासनहीनता की समस्या उत्पन्न नहीं होगी।

५ बालकों को क्यों पढ़ाना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी ऋषि ने बड़े विस्तार से विचार किया है। "सत्यार्थ प्रकाश", संस्कार विधि और ऋग्वेदादि भाषा भूमिका में किस प्रकार के ग्रन्थ पढ़ने चाहिए और किस प्रकार के नहीं। ऋषि की उस पाठविधि का ध्यान से विश्लेषण करने पर एक बात तो यह स्पष्ट रूप से सामने आती है कि ऋषि की यम्मपति में पाठविधि में भौतिक विद्या-विज्ञान (फिजिकल साईन्स) और आध्यात्मिक (सुपरीच्युअल साईन्स) दोनों का विशुद्ध आदि सात्विक भोजन ही करेंगे। वे तम्बाकू शराब आदि सात्विक भोजन ही करेंगे। वे तम्बाकू शराब आदि द्रव्यों से सर्वथा दूर रहेंगे।

का ही समावेश होना चाहिये। ऋषि ने जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनमें रसायन, भौतिक, गणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, राज-निति, युद्धविद्या, यत्नकला, आयुर्वेदादि भौतिक विद्या विज्ञानों का

भी वर्णन है। उस पाठविधि में संगीत के अध्ययन की व्यवस्था है
संस्कृत भाषा और उसके उच्च अध्ययन की व्यवस्था तो है ही ऋ
दयानन्द ने यह भी लिखा है कि प्रारम्भ से ही, बल्कि पाठशाला
जाने से पहले ही घर में ही बालकों को विदेशी भाषाओं का सिखा
आरम्भ कर देना चाहिए। इससे यह संकेत मिलता है विदेशी भा
में जो ज्ञान विज्ञान है उसके पठन-पाठन के पक्षपाती ऋषि दयान
की पाठविधियों में तर्क और दर्शन शास्त्र को पढ़ाने की व्यवस्था है
चारो वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषदों के पठन-पाठन की व्यव
भी वहां है। वेदों में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार
विद्याओं की व्यवस्था है। दर्शन में उपनिषदों में आध्यात्मिक विद्या
का वर्णन है। इस प्रकार ऋषि की सम्पत्ति में भौतिक और आध्या
त्मिक दोनों प्रकार की विद्याऐं साथ-साथ पढ़ाई जानी चाहिए। तभ
मानव का सन्तुलित विकास हो सकेगा। किसी एक प्रकार की
विद्याओं को पढ़ने पढ़ाने से व्यक्ति एकागी हो जायेगा। जिसके कार
व्यक्ति और समाज दोनों की हानि होगी। आज के संसार में
कलह लड़ाई-झगडे, युद्ध और अशान्ति दिखाई देती है वह शिक्षा
आध्यात्मिक विद्याओं को स्थान न देने का ही परिणाम है। ऋषि
दयानन्द ने जो विस्तृत पाठविधि दी है वह सब विद्याओ के ज्ञान
उच्चकोटि के महाविद्वान व्यक्तितैसार करने की दृष्टि से दी है
"सत्यार्थ प्रकाश" के तृतीय समुल्लास के अन्त में इन्होंने एक न्यूनतम
पाठविधि की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने लिखा है कि जो
पुरुषों को व्याकरण (संस्कृत) धर्म और अपने व्यवहार (आजीविको
पार्जन) की विद्या न्यून से न्यून अवश्य सीखनी चाहिए (वैसे स्त्रियों
को भी व्याकरण) धर्म वैद्यक, गणित, शिल्प विद्याओं तो अवश्य
सीखनी चाहिए। सुविधानुसार पाठविधि में अधिक से अधिक विषयों
पढ़ाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

६ ऋषि दयानन्द छात्रों में कामनावास को भड़काने वाले काव्य नाटक, उपन्यास आदि पढ़ाने के घोर विरोधी थे। वे छात्रों के जीवन में ब्रह्मचर्य, संयम और पवित्रता पर अधिक बल देते हैं। ग्रीस के प्राचीन महान् दार्शनिक प्लेटों ने इस प्रकार के कामोन्तेजक साहित्य को घोर विरोध किया है। इसी प्रकार आधुनिक विद्वान् एल्डस् हक्सले, ने भी इस प्रकार के साहित्य को पढ़ाने का घोर विरोध किया है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने श्राद्ध, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भूत और प्रेतादि को अन्धविश्वास की शिक्षा देने वाले साहित्य का भी तीव्र विरोध किया है।

७ बालकों को अन्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ योग की शिक्षा भी प्रारम्भ से ही देनी चाहिए। योग दर्शन आदि शेष विषयक साहित्य भी पढ़ाया जाना चाहिए और योग के यम, नियम, आसन, प्राणायम आदि इन आठ अंगों का क्रियात्मक अभ्यास भी कराया जाना चाहिए। आसनों और प्राणायम के अभ्यास से उनमें मानसिक और आत्म पवित्रता उत्पन्न होगी जिसके कारण वे सब प्रकार की बुराईयों और दोषों से बचे रहेंगे। तथा योग के निरन्तर अभ्यास से वे परमात्मा के दर्शन के अधिकारी भी एक दिन हो जायेंगे।

८ योग के यम और नियमों से शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम कहलाते हैं। इन नियमों के पालन से छात्र-शरीर और वस्त्र की दृष्टि से स्वच्छ रहना सीखेंगे। २—सफलता और असफलता में एक रस सीखेंगे ३—समाज सिंगार तथा बनाव ठगाव से दूर रहकर सादगी और कष्ट सहने की तपस्या का जीवन बिताना सिखेंगे ४—उनमें उत्तम और ज्ञानवर्धक ग्रन्थों की अध्ययन की क्षमता जागृत होगी और ५—वे ईश्वरों के पासक बनेंगे। अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पांच यम कहलाते हैं।

उन पांचों यमों के पालन से छात्र १—अपने स्वार्थ के लिये किसी प्राणी को किसी प्रकार का भी कष्ट न देने प्रत्युत दूसरों के कष्टों को दूर करने की भावना को अपने अन्दर जागृत करेंगे। २—सत्य का पालन करना और असत्य से दूर रहना सिखेंगे ३—किसी भी प्रकार की चोरी की वृत्ति से पृथक रहना सीखेंगे ४—मन और इन्द्रियों को वश में रख कर अपनी जननेन्द्रियों को वश में रखने वाले संयमी बनेंगे। ५—लोभ और लालच से परे रहने वाले आवश्यकता से अधिक धन सम्पत्ति अपने पास न रखने की वृत्ति वाले बनेंगे। ये दशों बातें जिन छात्रों के जीवन में ढल जायेंगी उनसे जीवन में आगे चलकर किसी प्रकार के पाप या बुरे कार्य नहीं होंगे और आज के समाज में जो घोर भ्रष्टता पाई जाती है वह चरित्र भ्रष्टता इस प्रकार की शिक्षा में पले युवकों से बने समाज में कभी दिखाई नहीं देगी। ऋषि दयानन्द ने अपनी शिक्षा पद्धति में इन यम-नियमों का पालन एक आवश्यक अंग रखा है।

६ छात्रों की दिनचर्या में दोनों समय सन्ध्या और अग्निहोत्र करना अर्थात् दोनों समय परमात्मा की उपासना में बैठना और उसके गुणों का चिन्तन करना आवश्यक होता है जिससे वे परमात्मा के सत्य, न्याय, दया आदि गुणों को अपने भीतर धारण करके परमात्मा जैसे निर्मल और पवित्र बन सकें। छात्रों के लिये दोनों समय स्वच्छ वायु में खड़े होकर कोई ना कोई व्यायाम करना या खेलना-कूदना भी आवश्यक होगा। विद्यार्थियों के लिये तपस्वी होना अर्थात् सभी प्रकार के साज-सिंगार से परे रहकर पूर्ण सादगी का जीवन बीताकर अहिंसा के व्रती होकर वे मांस-मछली और अण्डों के राजस और अण्डों के राजस और तामस भोजन से सर्वथा दूर रहेंगे। वे गौ का दूध दही और मक्खन तथा गेहूं, चावल-दाल, शाक और फलों आदि

१० जिस प्रकार सादगी संयम और पवित्रता की दिनचंया विद्यार्थियों के लिए आवश्यक होगी वैसे ही दिनचंया उनके गुरुओं के लिए भी आवश्यक होगी। अपने गुरुओं के जीवन से ही विद्यार्थियों से सब कुछ सीखना है।

११ महर्षि दयानन्द सहशिक्षा के तीव्र विरोधी हैं उनके अनुसार लड़कों की शिक्षा-संस्थाएं पृथक और लड़कियों की शिक्षा संस्थाएं पृथक होनी चाहिए। लड़कों की संस्था में शिक्षक और अन्य कर्मचारी स्त्रियां ही होनी चाहिए। सहशिक्षा के दुष्परिणाम आज के शिक्षा जगत मे भली भांति देखे जा सकते हैं।

१२ राष्ट्र के प्रत्येक बालक को ऊंची से ऊंची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर अनिवार्य रूप से प्राप्त होना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि जाति नियम और राजनियम होना चाहिये। कि पांचवे और आठवें वर्ष से आगे माता-पिता अपने बालक-बालिकाओं को उनकी अपनी-अपनी पाठशालाओं में पढ़ने के लिए अवश्य भेज दें। कोई अपने बच्चों को घर में न रखें। जो माता-पिता ऐसा न करें उन्हें दण्ड दिया जाये। सब बालकों को भोजन, वस्त्र, आसन और पुस्तकें आदि सब कुछ शिक्षा संस्थाओं द्वारा राज्य की ओर से निःशुल्क दिया जायेगा। इस व्यवस्था में निर्धन से निर्धन बालक ऊंची से ऊंची शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। सभी बालकों का वस्त्र-भोजन आदि सब सामग्री एक साथ दी जायेगी और सबको एक समान तपस्वी जीवन बिताना पड़ेगा चाहे जो बालक निर्धन मजदूर का हो और चाहे किसी ऊंचे राजकर्मचारी अथवा राष्ट्रपति का हो। सबके समान एक साथ समान बर्ताव किया जायेगा। इस व्यवस्था से जहां एक तो लाभ होगा कि राष्ट्र के प्रत्येक बालक के लिए ऊंची से ऊंची शिक्षा बिना किसी प्रकार के विघ्न-बाधा के प्राप्त कर सकना सम्भव होगा।

वहां दूसरी ओर यह लाभ भी होगा कि शिक्षाकाल के लम्बे समय तक
एक समान जीवन के लिये अत्यन्त हानिकारक जन्म पर आधारि
घृणा मूलक भावना भी नहीं उत्पन्न सहीं हो पायेगी। एक तीसरा
लाभ इस अवस्था से यह होगा कि बालक यह सोचेंगे कि उन्होंने
अपनी शिक्षा राष्ट्र के व्यय पर प्राप्त की है इसलिए उनका कर्तव्य
है कि वे अपनी शक्ति के अनुसार राष्ट्र की अधिक से अविक सेवा करें
इस भावना से प्रेरित होकर युवक लोग जब राष्ट्र में विभिन्न कार्यों
को सम्भाल लेगें तो राष्ट्र को उनसे बहुत अधिक लाभ मिलेगा।
शिक्षा के क्षेत्र में ऋषि दयानन्द की शिक्षा पद्धति साम्यावादी है।

१३ यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि शिक्षकों को
भी उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक भोजन-वस्त्र आदि
सब कुछ राज्य की ओर से शिक्षा संस्थाओं की ओर से मिलेगा। प
शिक्षकों को भी सादगी और तपस्या और परिग्रह की वृत्ति का जीवन
बिताना पड़ेगा। उन्हें धन के पीछे दीड़ने वाला नहीं होना होगा।
उन्हें तो सभी दृष्टि से जनता के मार्ग दर्शक बनना पड़ेगा।

१४ जितना जितना विश्व की शिक्षा संस्थाओं में ऋषि दया-
नन्द की शिक्षा विषयक सिद्धान्तों को समाविष्ट किया जाता रहे
उतना-उतना वे संस्थाएं आदर्श शिक्षा संस्थाएं मानव मात्र का उतना
उतना ही अधिक कल्याण कर सकेंगी।

□ □ □

"वैदिक साहित्य में गौ हत्या या गौ रक्षा ?"

भारतीय चिन्तन परम्परा में गौ को अत्यधिक पूजनीया माना गया है। जो गौओं को पालते हैं उनकी रक्षा करते हैं उनको गऊवें "भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्" गौधन उन गृहस्थों के ऐश्वर्यों की वृद्धि करता है इसलिये ही वेद में स्पष्ट रूप से यह उदघोषणा की गई है कि गउवें माता, पुत्री और बहिन की सदृश अघ्न्या हैं।

माता रुद्राणां दुहिता वसूनाँ स्वसादित्यनाम् तस्यनाभिः।
प्र नु वाचं चिकितुषे जनायमागामानागामदितिं वधिस्ट ॥

(ऋग्वेद ८-१०१-१५)

गौ राष्ट्र के रुद्र, वसु और आदित्य ब्रह्मचारियों की माता,पुत्री और बहिन हैं। ये अमृत हैं। ऐसी निष्पाप गौ को कभी भी मत मार इसलिये गौ को वेद में रक्षा करने योग्यबतलाया है। जैसे अथर्ववेद ३.१४.१५,५ और ६ में गौ के बाँधने का स्थान सुरक्षित होना चाहिये।

(३) इमं साहस्रं शतधारमुत्सं-
व्यच्यमानं शरीरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने
मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ यजु० (१३.४९)

सैकड़ों तथा हजारों का धारण और पोषण करने वाली दूध का कुआ, मनुष्यों के लिये घृत देने वाली, ओर जो न काटने योग्य गौ है उसकी हिंसा मत कर। महर्षि दयानन्द जी इसी मन्त्र पर भावार्थ में लिखते हैं—

येभ्यो गवादिभ्यो दुग्धादिपदार्थां जायन्ते यैः सर्वेषां रक्षणं भवति ते कदाचिन्नैव हिंसनीयाः, य एतान् हिंस्युस्तेभ्यो राजादिन्यायेशा आहि दण्डं दद्युः ।

वेद में सभी पशुओं की रक्षा के लिये कहा है–पशूंस्त्रायेथा (यजु० ६.११) इस पर महर्षि दयानन्द लिखते है (पशून्) गौ आदि पशुओं को (त्रायेथाम्) पालो ।

(५) आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥
अथर्व ५.१८.३ ॥

इस मन्त्र में कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मण की गौ की रक्षा करे, उसकी हिंसा कभी न करे । देखो गौ-(ज्ञान कोष पृष्ठ ६ पर) श्री सातवलेकर महोदय ।

गौ को अघ्न्या कहा है । आचार्य सायण ने भी यजुर्वेद १२.७३ में अघ्न्या का अर्थ अहन्तव्याः गावो किया है । कहने का अभिप्राय यह है कि गौ को कभी नहीं मारना चाहिये । निरक्त में भी गौ के जो नाम दिये है वे ये हैं । अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही अदिति, इडा, जगती और शक्वरी । इन उपरोक्त शब्दों में अघ्न्या और अदिति शब्द गौ के अवध्य होने की तथा अही और मही शब्द उस के पूज्य होने की सूचना देते हैं । अघ्न्या-अहन्तव्या भवति (नि० ११.४४) । यही युक्ति महाभारतकार ने भी दी है—

(६) अघ्न्या इति गवां नाम क एता हेतुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वा लभेत्तुयः ॥
(शान्ति पर्व अ० २६)

अर्थात् गौ तो अघ्न्या अर्थात् अमारणीया है, उसे कौन मार सकता है अर्थात् कोई भी उसे नहीं मार सकता है।

इसी प्रकार अदिति भी अ+दो अवखण्डने से क्तिन् प्रत्यय से बना है। जिसका अर्थ है–अखण्डनीया भवति।

इसी प्रकार वेद में अनेकों स्थलों पर गौ को अघ्न्या कहा है। जो उसकी रक्षा करता है उसकी प्रशंसा वेद द्वारा की गई है। कुछ प्रमाण निम्नलिखित हैं—

१—मारुतं गोषु अघ्न्यं शर्धः प्रशंसः (अ० १.३७.५) जो मारुत् गौ की रक्षा करते हैं उनके बल की प्रशंसा करो।

२—इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहाम् (ऋ० १.१६४.२७) अथर्व शौ० ७.७७.८ यह अवध्य गौ अश्वि देवों के लिए दूध दे।

३—अघ्न्ये विश्वदानीं तृणं अद्धि (ऋ० १.१६३.४०) हे अवध्य गौ तू सदा घास खा।

४—अघ्न्यायाः तप्तं घृतं शुचि। ऋ० ४।१।६॥

५—सुप्राणं भवतु अघ्न्यायाः (५.८३.८)।

६—यौ अघ्न्या अपिन्वतं अपो न स्तर्यम्॥

ऋ० (७.६८ ८)

इसी प्रकार वेदों में अनेक स्थलों पर गौ को अघ्न्या कहा है। स्थानाभाव के कारण मन्त्र न देकर केवल मन्त्रों के स्थल ही दिये जा रहे हैं।

ऋग्वेद (७.६८.९), (७.८७.४), (८.६९९.२), (८.७५.८), तै० (२.६.११.२),

ऋ० (८.१०२.१९), (९.१.९), (९.८०.२), (९.९३.३), (१०.४६.३.), १०.६०.११), (१०.८७.१६), (१०.१०२.७)। अथर्व शौ० (३.३०.१), (६.७०.१द्व३), (८.७.२५), (९.४.२), (९.४.१९), (१०.९.३), (१०.९.२४), तै० स० १.२.८.१) काण्व ९.३३

इस प्रकार कहां तक गिनाया जाये वैदिक साहित्य में पं० सातवलेकर जी कहते हैं कि १३७ बार अघ्न्या शब्द गौ के लिये प्रयुक्त हुआ है। (गौ ज्ञान कोश-पृष्ठ १३)

कई स्थलों पर अघ्न्यौ पद बैल गौ दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। अघ्न्यावशुनमारताम् अर्थात् बैल और गौ दोनों दुःख को प्राप्त न हो।

श्रीमोनिअर विलियम ने भी अपने संस्कृत इंगलिश कोष में अघ्न्य: और अघ्न्या दोनों पद स्त्रीलिंग और पुलिग में दिये हैं। वे इन दोनों का अर्थ देते हैं—

अघ्न्य:– not to be killed अवध्य a bule बैल
अघ्न्या– not to be killed अवध्य,a cow गाय

अतः बैल और गौ दोनों की हिंसा नहीं करनी चाहिये। जो निरपराध पशुओं की हत्या करते हैं उसका निषेध वेद कितना स्पष्ट करता है :–

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः। अथर्व १०.१.२९ हे कृत्ये। (अन् आगः हत्या) निरपराध का वध (भीमा वै)

सचमुच भीषण है इस लिये (नः गां अश्वं, पुरुषं मा वधीः) हमारी गाय घोड़े और पुरुष का वध मत कर।

वेद में गौ को तो मारने का विधान है ही नहीं अपितु जो उसको मारते हैं, उनको दण्ड देने का विधान अवश्य है। कुछ प्रमाण निम्नलिखित है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तंत्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥

अथर्व १।१६।४

अर्थ–यदि तू (नः गां अश्वं पुरुषं) हमारी गौ, घोड़े तथा पुरुष की (हंसि) हत्या करता है तो (तंत्वा) ऐसे तुझ को(सीसेन विध्यामः) सीसे की गोली से हम बींधते (यथा) जिससे तू(नः अ–वीर–हा–असः) हमारे वीरों का वध न करने वाला बनें।

वास्तव में गौ का वध करना वीर का वध करना है। अतः गौ के वधकर्त्ता को गोली से विद्ध करने योग्य यहां समझा गया है।

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा-
विषं गवां यातुधाना भरन्तमा
वृश्चन्तामदितये दुरेवाः
परैणान् देवः सविता ददातु परा-
भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥ अथर्व ८।३।१६

इस मन्त्र पर भाष्य पं० सातवलेकर जी का द्रष्टव्य है—

(यातुधानाः गवां विषं भरन्तां) जो दुष्ट गायों को विष देते हैं और जो गौओं को काटते हैं सविता देव इन को दूर हटावे। इन को औषधियों का भाग भी नहीं दिया जावे।

इसी प्रकार यजुर्वेद में गौ– घातक को वध करने का विधान है। "अन्तकाय गोघातम्" यजु० ३०.१८' गौ का वध करने वाले को मृत्यु का दण्ड दे दो।

क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति तम्।। यजु०२०.१८

गौ के टुकड़े वाले के पास (भिक्षमाण: उपतिष्ठति) भीख मांगने के लिये उपस्थित रहता है। (तं क्षुधे) उसको भूख के लिये अर्पण करो। अर्थात् गौ घातक पर इतना तीव्र सामाजिक बहिष्कार रखना चाहिये। भूखों मरे परन्तु गौ घारक से अन्न लेकर जीने का यत्न न करे।

गौ का वध करने वाले के लिये वेद कितने कठिन दण्ड की व्यवस्था करता है। इसका वर्णन उपरोक्त मन्त्रों में स्पष्ट रूप से किया गया है।

प्रश्न—गौ को वैसे मारने का विधान नहीं होगा, परन्तु यज्ञ में तो गौ मार डालने का विधान है।

उत्तर—नहीं। वेद में कहीं भी गौ को काट कर यज्ञ में डालने का विधान नहीं आया है। अपितु जो ऐसा करते हैं, उनको दण्ड देने का विधान वेद में स्पष्ट आया है—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गौरंगै: पुरुधा यजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रव:॥
अथर्व० ७.५.५

मूढ़ याज्ञिक लोग कुत्ते से यज्ञ करते हैं और गौओं के अवयवों से अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं जो इस तरह के मूढ़ याजकों के यज्ञ को मन से जानता है, वह आकर हमें कहे कि ऐसा हो रहा है। अर्थात्

यदि किसी को पता चल जाये कि यज्ञ में कुत्ते अथवा गौ आदि को मार डाला गया, तो शासकों को सूचना देनी चाहिये ताकि शासक लोग उन्हें दण्ड दे सकें ।

जो लोग अश्वमेध यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ, आदि यज्ञों के वास्तविक भाव को नहीं समझते हैं वे ऐसा मानते हैं कि इन यज्ञों में उनको काट कर आहुतियां दी जाती थीं । अथवा दी जानी चाहिये परन्तु उनका यह विचार एकदम अशुद्ध है । वेद में तो स्पष्ट रूप से आया है कि यजमान के पास पशु निर्भय होकर रहें ।

तस्य यज्वनः मर्तस्य उरुगायं अभयं ताः
गावः अनु विचरन्ति ।। अथर्व० २१.४.४

उस याज्ञिक मनुष्य के बहुत प्रशंसनीय निर्भयता में गौवें विचरती हैं । अर्थात् यज्ञकर्त्ता यजमान के निकट, गौवें निर्भय से रहती हैं । वहां उनको किसी भी प्रकार की कोई पीड़ा नहीं, दे सकता है । प्रस्तुत वर्णन देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यजमान, गौ को काट कर उसके मांस का हवन करता है, यह मिथ्या कल्पना है । गोमेध-यज्ञ में भी गो—मांस का कहीं सम्बन्ध नहीं है । इसी विषय में इसी मंत्र का तृतीय चरण द्रष्टव्य है । "ता गावः संस्कृतत्रं न अभि उपयन्ति" (मंत्र ४) । वे गौवें मांस—संस्कार करने वाले के पास नहीं जातीं । अर्थात् गौ मांस का पाक—संस्कार कोई नहीं करता है । यहां संस्कृतत्रं शब्द है । "संस्कृतः" का अर्थ है—अच्छी प्रकार काटने वाला, यहां "कृत्" धातु का अर्थ काटना है ।

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दित्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदाट्रण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ।।
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नावतत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारुणि मज्जा मज्जोपमाकृता ।।

अर्थ—जैसे बड़ा वृक्ष होता है पुरुष भी वैसा हो है। यह सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते ही रोम है। बाहर की छाल ही त्वचा है। आहत होने पर मनुष्य की त्वचा से रुधिर निकलता और वृक्ष की त्वचा के गोंद का रस। वृक्ष के शकर (गुद्दा) मांस रूप है, सूक्ष्म तन्तुसम शिरायें स्नावा हैं, अन्तर की दारू अस्थि तथा दारू में रहने वाला स्नेह पदार्थ मज्जा है।

इसी प्रकार चरक में भी मांस शब्द गुद्दे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा-प्रस्थं कुमारिका मांसम् अर्थात् एक सेर घी कवार का गुद्दा।

वेद में दूसरे अन्न आदि की प्राप्ति की प्रार्थना तो की है परन्तु मांस की प्रार्थना कहीं भी नहीं की गई है। कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने बिखरे हुए शब्दो की संगति न लगा कर यह घोषणा कर दी कि प्राचीन आर्य मांस खाते थे। उनमें से कुछ आपत्तियों का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है।

(क) अतिथि के लिये वध का प्रमाण शतपथ ३.४.१.२ का दिया है "राज्ञे या ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचतु"। यहां पर भी महोक्षं से बैल के वध का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इसी ग्रन्थ में इस से पूर्व मांस खाने का निषेध किया है और अनेक दोष दिखाये हैं। 'स धेन्वै चानुडुहश्च नाश्नीयात्, धेन्वनुडुहौ इदं सर्वं बिभृत.........तदेतत् सर्वाश्यमिव यो धेन्वनुडुहयोरश्नीयात्। .... पापकमिति पापी कीर्तिः तस्माद् धेन्वनुडुहयोर्नाश्नीयात्'। अतः यहां पर महोक्ष से बैल का तात्पर्य नहीं है। उक्षा शब्द संस्कृत साहित्य में सोम यत ऋषिभा औषधि (कर्कटशृंगी) आदि से लिये भी आता है और अज का अर्थ है पुराने चावल (अजास्तावद

सप्तवार्षिका: व्रीह् उच्यन्ते)बृहदारण्यकोपनिषद् में श्रेष्ठ तथा विद्वान् पुत्र प्राप्ति के लिये जो उक्षा और ऋषभ का वह भी क्रमश: सोमरस तथा ऋषभ औषधि (कर्कट श्रृंगी) का वाचक है।

(ख) अतिथिग्व:—अतिथिग्व का अर्थ किस व्युत्पत्ति के अनुसार अतिथि के लिये गौ का वध अर्थ बन सकता है। कौषीतकी ब्राह्मण में गौओं को अतिथिनी: केवल इस लिये करा है कि "अतिथिम्यो नीयन्ते इति ता:"सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति, दुग्धादि की देने वाली होने के कारण अतिथि को दी जाती है। उसमें वध का भाव तो लेशमात्र भी नहीं है।

(ग) विवाह में गोवध अथर्ववेद (१४.१.१३)में "मघासु हन्यन्ते गाव:" में हन् धातु का अर्थ वध नहीं लिया जा सकता है। क्योंकि वेद में सर्वत्र गौ को अघ्न्या कहा गया है। (हन् हिंसागत्यो:) हन् धातु हिंसा तथा गति दोनों में आता है। कोष में हन् का अर्थ To kill To Multiply तथा To go आदि दिये हैं। मन्त्र का सत्यार्थ इस प्रकार होगा। मघा नक्षत्र में गौवें वर के घर की ओर ले जायी जाती है (दहेज के रूप में) या अतिथियों के स्वागत के लिये कई गुणा अधिक कर ली जाती है और फिर फाल्गुनी नक्षत्र में कन्या का विवाह किया जाता है। इस मन्त्र में वध अर्थ नितान्त असंगर है।

(घ) मृतक संस्कार में गोवध—

अग्नेर्वर्म परिगोभि र्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ऋ० १०.१६.७।। इस मन्त्र में भी गौ का अर्थ गौ का मांस नहीं अपितु गौ शब्द का अर्थ गौ घृत है। क्योंकि शवदाह में गौ का मांस सहायक नहीं है। जैसा कि हम ऊपर ताद्धित नियम का उल्लेख कर आये हैं उसी प्रकार यहां भी गोविकार अर्थात् घृतादि का ही ग्रहण करना

युक्तिसंगत है अन्य नहीं। सायणाचाय भी इसका गोघृत ही अर्थ करते हैं।

पारसी धर्म जो आर्यों से बहुत मिलता है वहां भी गोमेध आदि का महत्त्व है। परन्तु वहां भी गौमेध से गौ की हिंसा नहीं अपितु वहां हल द्वारा भूमि का कर्षण करना बतलाया है। वही अर्थ वेद में भी अभिप्रेत है। उस कृषि यज्ञ ने ब्रीही और यव की आहुति (बीज वपन रूप में) दी जाती थी। यज्ञ का पर्यायवाची अध्वर शब्द उसकी हिंसा शून्यता का सूचक है।

दुर्भाग्य से जब वेद के मार्ग को लोग भूल गये, विद्या आदि से रहित हो गये, वाममार्ग का जोर हुआ उस समय मांस की आहुतियां यज्ञ में दी जाने लगीं, तब भी मांस की आहुति के लिये पूर्व वेदी से बाहर एक वेदी बनाई जाती है जिसे उत्तर वेदी कहते हैं। उत्तर वेदी संज्ञा ही सूचित करती है कि यह वेदी बाद में मांस प्रथा प्रचलित हो जाने पर बनाई गई।

वेद से इतर भारतीय साहित्य में भी गौ का महत्त्व बहुत दर्शाया गया है। जैसा कि महाभारत में वर्णन आया है कि—

> यज्ञांगं कथिता गवो यज्ञ एव च वासवः।
> एतामिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथंचन ॥

भीष्म जी कहते है कि वासवः गौओं को यज्ञ का अंग तथा साक्षात् यज्ञस्वरूप कहा यया है। क्योंकि इन के दुग्ध दधि और घृत के बिना यज्ञ सम्पन्न नहीं होता।

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा '
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते ॥१८॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च ।
ततो प्रवर्तन्ते हव्यं च सर्वदा ॥१९॥

महा० अनु० पर्व ८३

महाभारत में ही श्री कृष्ण से युधिष्ठिर को कहलवाया है—हे युधिष्ठिर !

यस्यैताः कपिलाः सन्तिहगृहे पापप्रणाशिनाः ।
तत्र श्रीर्विजयः कीर्तिः सफीता नित्यं युधिष्ठिर ॥

इसी मांस सुरा आदि को खाने वाले वेद विरोधी होते हैं—

सुरा मत्स्या मधुमांसमासवं कृषरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्प्यताम् ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ॥

(महा शान्ति अ० ३३०)

महाभारत में भी गौवों को अमृत की खान कहा है । वास्तव में गौ सर्व श्रेष्ठ पशु है, फिर भी मनुष्य पता नहीं उसकी हिंसा क्यों करता है ।

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलम् ।
अमृतं ह्यव्ययं दिव्य क्षरन्ति च वहन्ति च ॥

(महा० अनु० पर्व ५१, ३०)

अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥

ये गौवें विकार रहित अमृत धारण करती हैं और दुहने पर अमृत रूपी दुग्ध हमें प्रदान करती हैं। सारा संसार उनके सामने नत मस्तक होता है।

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वफलप्रदाः।
वृद्धिमाकांक्षत नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणा॥
सन्ताड्या न तु पादेन गवां मध्ये न च व्रजेत्।

महाभारतकार वसिष्ठ जी से कहलवाता है—

घृतक्षीरप्रदाः गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः।
घृतनद्यो घृतावतीस्ता याः सन्तु सदा गृहे॥
घृतं मे हृदयं नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम्।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम्॥
गावो में सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

महाभारत में हमने देखा कि गौवों की महिमा का वर्णन यथार्थ, साहित्यिक एवं बहुत ही आकर्षक किया गया है।

युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्दजी जो उन्नीसवीं शताब्दी के महान सुधारक हुए हैं वे गौओं के प्रति अपने उदगार प्रगट करते हुए करुणा स्रोत बहाते हुए गोकरुणानिधि नामक ग्रन्थ में कहते हैं—"देखिये जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खावे और सारा दूध आदि अमृतरूपी रतन देवें, हल गाड़ी में चल के अनेकविध अन्नादि उत्पन्न कर के.........नीरोगता करे.........मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें जहां बांधे नहीं, बन्धे रहें, जिधर चलाये उधर चलें, अपने स्वामी की रक्षा के लिए तन लगावे इत्यादि शुभ गुण युक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरे से काट कर जो अपना पेट भरकर

व संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी दुःख देने वाले पापीजन होंगे।" गोकरुणानिधि पृष्ठ ३ पर आर्थिक दृष्टि से महर्षिजी ने लाभ दिखाते हुए इसी पुस्तक के पृष्ठ एक पर इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है।

"इस गाय के पीढ़ी में छः बछिया और सात बछड़े हुए इनमें से एक रोग आदि से मृत्यु सम्भव है तो भी बारह शेष रह जाते हैं। उन बछियों के दूध मात्र से १५४४४० व्यक्तियों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल उनमें एक जोड़ी से दोनों साख में २०० मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६०० मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं......प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव भोजन में गिने तो २५६००० मनुष्यों का एक बार भोजन होता है। इन गायों की परपीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जाये असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है और इसके मांस से अनुमान है कि अस्सी मांसाहारी मनुष्य तृप्त हो सकते हैं।" (गोकरुणानिधि पृष्ठ १—२) पर स्वामी दयानन्द जी ने आर्थिक दृष्टि से भी विचार कर यह रखने का प्रयास किया है कि गौवों से हमें किसी प्रकार की हानि नहीं है। आजकल के अर्थशास्त्रियों ने भी यही बतलाया है कि हमें गौ के पालन से किसी प्रकार का नुकसान नहीं है। जिस का वर्णन हम आगे चलकर करेंगे।

भारतीय इतिहास में आर्य राजाओं के यहां तो गौ रक्षा होती ही थी। इतिहास प्रसिद्ध महराज दिलीप ने शेर के सामने अपने आप को अपनी गौ की रक्षा हेतु प्रस्तुत किया, कितना गो के प्रति आदर का भाव राजाओं में था। तभी तो उस समय का भारत समस्त संसार का गुरु कहलाता था।

> एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याः सर्वमानवाः॥

मनु की यह उद्घोषणा कि पृथ्वी के सभी मानव भारत में शिक्षा लेने आते थे, वह युग कितना सुन्दर रहा होगा, इसका कारण गौ का सात्विक दूध और गौ की रक्षा का ही फल था। आज का भारत गौओं की जीभ बेचकर अन्तड़िया बेच कर भी खा गया, परन्तु फिर भी दाने-दाने के लिए दूसरे देशों से भीख मांगता है तो भी पेट नहीं भरता है। महर्षि दयानन्द जी ने गोकरुणा-निधि में ठीक ही कहा है कि गौ आदि प ुओं के न ाश से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है।

जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है हिन्दु राजाओं के यहां तो गौ की रक्षा होती ही थी परन्तु मुसलमान राजा भी इस विषय में पीछे नहीं थे। जैसा कि "बाबर की हुमायु की वसीयत" उल्लेख हमें प्राप्त है।

अल्हम्दुलिल्लाहि ९३३ हिजरी जहीरुद्दीन मुहम्मद बादशाह बाबर गाजी वसीयत नामः मरव्फी। जहीरुद्दीन बाबर बादशाह गाजी वा शाहजादा नसीरुद्दीन मुहम्मद हुमायूं लूल उम्रहु हस्र हकामे सल्तनत नविशतः शुखः ऐ फर्जन्द नुमलकते...पुख्तः शवद। (गौ विश्व की मां पृष्ठ ६०)

उपरोक्त इस वसीयतनामे का भाव यह है कि वह हिन्दुओं का हृदय तभी जीत सकता है जब की वह गौहत्या से बचता रहे। अर्थात् अपने राज्य में गौहत्या न होने दे।

अकबर ने मौलवियों से परामर्श करके सन् १५८६ ई० में गौ-हत्या बन्दी के लिए एक फरमान जारी किया कि हमें हिन्दुओं की भलाई के लिये गौहत्या नहीं करनी चाहिये। आदि (मूल प्रति ग्वालियर में सुरक्षित है। गौ विश्व की मां पृष्ठ २३)।

जहांगीर तथा शाहजहां के शासनकाल में गौहत्या पर अकबर द्वारा लगाया प्रतिबन्ध निरन्तर चालू रहा। हां औरंगजेब ने महान्धता के कारण गौहत्या पर लगी पाबन्दी हटा दी। इसका परिणाम यह हुआ था कि गुरु गोबिन्दसिंह एवं शिवाजी को तुर्क शासन के विरुद्ध तलवार उठानी पड़ी। औरंगजेब को छोड़कर दूसरे सभी मुसलान बादशाहों के यहां गौहत्या पर पाबन्दी रही। जैसे-मुगल शासन शाह आलम तथा बहादुरशाहजफर ने भी अपने शासनकाल में गौहत्या पर पावन्दी लगा रखी थी। बहादुरशाह ज्फर ने तो १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में विशेष आज्ञा द्वारा वकराईद के अवसर पर भी गोकशी न करने की हिदायत दी थी।

छत्रपति शिवाजी ने बाल्यकाल में ही गोमांस विक्रेता कसाई का वध इस्लामी राज्य में ही कर दिया था। प्रौढ़ अवस्था में अपने गुरु श्री समर्थ स्वामी रामदास जी की सत्प्रेरणा से गौ ब्राह्मण की रक्षार्थ ही हिद पद वादशाही की स्थापना की थी।

अंग्रेजों के राज्य में गौहत्या में विशेष वृद्धि हुई। उसी से १८५७ में यह विप्लव हुआ कि गौहत्यारे अंग्रेज के होश ठिकाने लग गये। महाराज पृथ्वीराज नें तो मुहम्मद गौरी को जो कि देश का सबसे बड़ा शत्रु था, यह कहने पर छोड़ दिया कि मैं आप की गाय हूं यद्यपि यह एक राजनैतिक भूल सिद्ध हुई परन्तु हिन्दुओं की उस उत्तम भावना का जो गौ के प्रति थी उसका पता तो चलता ही है। प्रसिद्ध इतिहास लेखक डा० बनियर के अनुसार यह भी यही सिद्ध होता है वे लिखते हैं कि—

१—अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाहजफर ने गदर के दिनों में दिल्ली में यह घोषणा कर दी थी कि जो मुसलमान बकरा-ईद

पर भीं गौ की कुर्बानी करेगा उसे तोप से उड़ा दिया जायेगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मुसलमान बादशाह भी हिन्दुओं की इस भावना को ठेस नहीं पहुँचाना चाहते थे। डा० वनियर इससे आगे लिखते हैं—

२—शहाजहां ने भी गोहत्या बिल्कुल बन्द कर रखी थी।

३—काश्मीर के शासक जैनुलाबदीन ने गोहत्या की मनाही कर रखी थी।

४—मुहम्मद तुगलक और।

५—फिरोज तुगलक गोमांस भक्षक नहीं थे।

६—गुजरात के फरहतुलमुल्क ने भी गोहत्या पर पूर्ण पाबन्दी लगा रखी थी।

७—भारत की लगभग ६०० देशी रियासतों में तो गोहत्या सदा से बन्द रही थी।

८—नैपाल में तो यह राजाज्ञा है कि गोहत्यारे को प्राणदण्ड दिया जावे।

९—काश्मीर की पैनल कोड धारा २१९ के अनुसार गोघातक के लिये १० वर्ष की सख्त कैद का दण्ड लिखा है।

१०—ग्वालियर के पैनल कोड की धारा २८६ में गोघातक के लिए सात वर्ष का कडा दण्ड लिखा है।

११—बड़ोदा स्टेट के विधान में धारा १४२ के अनुसार गोवध करने वाले को ३ मास की कैद २ हज़ार रुपये जुर्माने की आज्ञा है। इस प्रकार के आंकड़े हमें प्राप्त होते हैं। फिर भी पता नहीं भारत सरकार क्यों नहीं अविलम्ब गोहत्या पर पाबन्दी लगाती है।

सन्त युग में भी सन्तों ने अपने दोहे, चौपाइयों द्वारा गोरक्षा के महत्व को बतलाया है। जैसे कबीरदास जी कितने सुन्दर शब्दों में कहते हैं—

तुरकी धर्म बहुत हम खोज। बहु बाजार करे ए बान्ध।
गाफिल गरव करे अधिकाई। स्वारथ अरथि बधै ए गाई॥
जाको दूध धाई पीजे तन। माता का वध क्यों कीजे॥

इसी प्रकार गुरु गोविन्द जी कहते हैं—

यही देह आग्या को तुरक को खपाऊं।
गऊ घातका दुःख जगत् से हटाऊं॥
यही आस पूरन करो तुम हमारी।
सिटे कष्ट गोअन छूटे खेद भारी॥

महात्मा गांधी जी मुसलमानों से जितना स्नेह करते थे सम्भवतः ही दूसरा कोई हिन्दू होकर कर सकेगा। परन्तु फिर भी वे गौ के विषय में स्पष्ट रूप से लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के साथ रहकर गौवध करना हिन्दुओं का खून करने के बराबर है। क्योंकि कुरान कहता है कि पड़ौसी का खून करने वाले को जन्नत नहीं। (नवजीवन २५ जनवरी १९२१)।"

इसीप्रकार महात्मा गांधी फिर लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान में गाय ही मनुष्य का सबसे सच्चा साथी है, सबसे बड़ा आधार है। यह लाखों करोड़ों हिन्दुस्तानियों को पाने वाली माता है। इस गाय ची रक्षा करना ईश्वर की सारी मूक सृष्टि की रक्षा करना है। (नवजीवन ६ अक्टूबर १९२१)।"

इसीप्रकार बहुत से मुसलमान विद्वान् ने भी स्पष्ट लिखा है कि मुसलमानों को चाहिये कि वे गोकशी न करें। इसीप्रकार ईसा-मसीह जी भी प्राणी अहिंसा के विरुद्ध स्पष्ट घोषणा करते हैं—

Thou salt not kill and ye small be holy man unto me neighter shall ye eat and flesh that is torn of beasts in the fied, [J. Christ]

अर्थात् तू किसी को मत मार। तू मेरे समीप पवित्र मनुष्य होकर रह। जंगलों के प्राणियों का वध करके उनका मांस मत खा।

प्रश्न—गोहत्या यदि बिल्कुल बन्द कर दी जायेगी तो जो पशु दूध आदि नहीं देते हैं वे ही सारे चारे को खायेंगे।

उत्तर—यह विचारना इसके समान है कि जो माता-पिता इस समय कुछ नहीं कर रहे हैं वे राष्ट्र का व्यर्थ बोझ क्यों बन रहे हैं? क्यों न उनको गोली से उड़ा दिया जाये? क्या कई देशों में जो व्यक्ति कुछ भी नहीं कर पाते उनको पेंशन आदि देकर वहां की सरकार उनका पालन नहीं कर सकती है? गौवें तो भी खाद अथवा मूत्र हमें प्रदान करती हैं। यदि सरकार कृषि की ओर ध्यान दे तो चरी आदि की फसल का विकास कर इस समस्या का हल सरलता से कर सकती है।

आर्थिक दृष्टि के गौ का महत्व—

भारत में गाय के प्रश्न को महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सुलझाये जाने वाले प्रश्नों में प्राथमिकता के आधार पर पहला स्थान दिया था। भारत जैसे देश में जहां कि जनसंख्या का ८० प्रतिशत भाग कृषि पर आधार रूप से जीविका के लिए आश्रित है, गाय को इतना महत्व दिया जाना स्वाभाविक है। गो-पालन कृषि

का एक पूरक व्यवसाय है। भारत को आज की स्थिति में जबकि जोतें छोटी हैं, गो-पालन के बिना खेती सोची भी नहीं जा सकती है। इसके ओर लाभों के अतिरिक्त ३ –मुख्य लाभ हैं—

१ दुग्ध उत्पादन-स्वास्थ्य सम्बन्धी तत्वों से परिपूर्ण।

२ कृषि की विभिन्न क्रियाओं के लिए शक्ति को उपलब्ध करना।

३ गोबर की जैविक एवं सम्पूर्ण खाद की प्राप्ति। इससे अतिरिक्त मरने के पश्चात् उपयोगी खालें, हड्डियों के चूरे आदि अन्य प्राप्त वस्तुयें इन उपरोक्त तीन लाभों से कुछ कम महत्पूर्ण अवश्य है पर लाभप्रद अवश्य हैं।

१ दुग्धोत्पादन की दृष्टि से हमारी गायें कुछ कम अवश्य हैं क्योंकि औसत प्रतिदिन उत्पादन लगभग एक पौण्ड मात्र ही है। किन्तु देश में करनाल डैरी में तथा दिल्ली पूसा की डैरी में अभी भी ऐसी गायें हैं जिनका प्रतिदिन दूध ८० से ८५ पौण्ड है। विचारणीय विषय यह है कि शरीर देखकर साण्ड चुनने के स्थान पर दुग्धोत्पादन के आधार पर जिनेटिक वंशावली को ध्यान रखकर गौवंश की वृद्धि में हम क्या कुछ कर पाए हैं। संयुक्त राज्य अमे–रिका में गौवंश को उन्नत करने में भारत के निर्यात किए गए सांडों का योगदान सर्वविदित है। कृषक परिवार का स्वास्थ्य अच्छी खेती के लिए अत्यावश्यक है, इस हेतु दूध के महत्व से हम सब परिचित हैं। दूध के लिए भैंस और शक्ति के लिए गौ पुत्र बैल भारत के किसान के लिए एक विलासिता (अपव्यय) मात्र है। कैसा बड़ा मजाक है कि गाय के लिए सर कटाने वाले भारत में गाय के दूध से भैंस के दूध को अच्छा समझा जाने लगा है। जब कि चीन के थोड़े से भाग को छोड़कर संसार में गाय का दूध ही प्रयोग में लाया जाता है। डाक्टरों की राय है

कि गाय के दूध में जो-ए खाद्योज रहते हैं वे अधिक स्थाई होते हैं जबकि भैंस के दूध के शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। गायें भैंस की अपेक्षा सदैव ही रहने के लिए साफ सुथरा स्थान तथा अच्छा वातावरण पसन्द करती हैं और इसके दूध का मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी उसी प्रकार सुन्दर असर पड़ता है।

२—जहां तक खेत में कृषि क्रियाओं के लिए बैल से शक्ति प्राप्त होती है, उसकी दृष्टिकोण से गाय को शायद कभी भी भारतीय कृषि से विस्थापित नहीं किया जा सकता। यदि कभी ट्रेक्टर की बात हम सोचें तो भी लगभग ३९ करोड़ एकड़ कृषि के अन्तर्गत भूमि के लिए लगभग ४० लाख ट्रेक्टर की आवश्यकता होगी। इस समय देश में कुल लगभग ९० हजार ट्रेक्टर हैं जो कि सभी ठीक हालत में नहीं होंगे। फिर तेल डीजल स्पेयरर भागों की उपलब्धता, ट्रैक्टर के सही रख-रखाव आदि की समस्याएं भी बडी कठिन हैं। ट्रैक्टर बेकार होने पर ठीक न होने पर कितनी एकड़ खुदाई पिछड़ जाता प्रायः ही देखा गया है। पावर डीलर्स की बात सोची जाए तो उनकी संख्या तो ट्रैक्टरों की अपेक्षा १० गुनी अधिक होगी। हमारे यहाँ लगभग ७ करोड़ बैल हैं इससे लगभग ३ करोड़ हार्स पावर प्रतिदिन प्राप्त पोती है, जो कि ४० लाख ट्रैक्टर के समान है जिनका मूल्य लगभग ८ करोड़ होगा। वार्पिक देख रेख में ही १२ करोड़ का व्यय है।

३—गोबर की खाद को, एक सम्पूर्ण और वह भी जैविक रूप में होने को विशेष महत्व दिया गया है। इसके लाभ मोटे रूप से नीचे लिखे जा रहे हैं।

१—एम: पी०के० पोषक तत्त्व मिलते हैं।

२—केलसियम, मैगनिशियम, गन्धक तथा अन्य सभी अल्प मात्रिक औसत तत्त्व प्राप्त होते हैं।

३—भूमि की भौतिक दशा सुधरती है। तथा पानी सोखने की क्षमता बढ़ती है। अच्छी भौतिक दशा तथा भोजन पदार्थ (खाद) की उपलपब्धता से सुद्न जीव की जगत् में इतनी वृद्धि हो जाती है कि पर्याप्त मात्रा में हवा के नतृजन को भूमि में स्थापित कर देते हैं।

भारत में लगभग १७ करोड़ गौ-वंश के पशु हैं जिनसे लगभग ३० करोड़ टन गोबर की खाद प्राप्त होती है, जिससे लगभग ६० लाख टन नतृजन, ४५ लाख टन फास्फोरस तथा ६०लाख टन पोटाश प्राप्त हो सकती है। इतना उत्पादन कोन्धिरी जैसे १०० कारखाने भी पै.ा नहीं कर सकते हैं। यदि गोबर गैस प्लाण्ट का प्रयोग किया जा सके तो १५ करोड़ हार्स पावर के बराबर शक्ति प्राप्त हो सकती है। यदि ईन्धन के लिए सूर्य-चूल्हा, गोबर गैस प्लाण्ट,स्टौव, कोयला आदि के उपयोग से गोबर को जलने के बचाया जा सके तो कृषि उत्पादन बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त गोबर गैस प्लाण्ट में डालने से गोबर की पोषक शक्ति कम न होकर और बढ़ जाती है और यह शीघ्र सड़ भी जाता है।

सही बात तो यह है कि रात भर में घासफूस को उपयोगी खाद में बदल देने वाली फैक्टरी गायें हैं। यह शक्ति और स्वास्थ्य का भी स्रोत है। तभी कालिदास ने लिखा है कि ठीक से सेवा करने पर तो गायें कामधेनु हो जाती हैं और सभी कामना को पूरा कर देंगी। अपंग पशुओं या बूढ़ी गायों के वध की जो लोग बात करते हैं वे भूल जाते हैं कि इससे अच्छे पशुओं को भी अपंग कर वध करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन ही मिलेगा।

THE COW IN INDIA (Vol. 1) by Satish Chandra Das Gupta, Khadi Pratishthan, Calcutta, 1945.

सामान्यरूप से यह कहा जाता है कि हिन्दू अपनी धार्मिक भावना के आवेश में गौओं को उनके सूखे जाने पर भी पालते रहते हैं जिससे उन गौओं को पर्याप्त चारा नहीं मिल पाता जो हरी होती है। यह तथ्य के विपरीत हैं। जो मुसलमान किसान सूखी गौओं को मार देते हैं वे भी अपने पशुओं को अच्छी हालत में नहीं रख पाते। हिन्दू किसान गौओं को खुद नहीं मारते अपितु उन्हें बेच देते हैं। ग्राहक प्रायः आम तौर पर कसाई ही होते हैं। इसलिए दोनों का परिणाम तो वही रहता है। इस कारण धार्मिक भावना को इसमें कारण नहीं माना जा सकता। (पृ०७)

गौ के गोबर तथा मूत्र के खाद में बंजर भूमि को उपजाऊ बना देने की अद्भुत शक्ति है। (पृ० २१) सर एलबर्ट होवर्ड ने इन्दौर में इसका परीक्षण किया था और अपनी पुस्तक "An Agricultural Testament" (1940) में इसका वर्णन किया था। (पृ० २७–८)

गौ का बछड़ा और दूध दोनों का पूरा महत्त्व है। सब जगह ट्रैक्टर नहीं चल सकता। सब लोग ट्रैक्टर का उपयोग नहीं कर सकते। थोड़ी भूमि वाले तथा टेक्टर के मशीनी ज्ञान से रहित किसान ऐसे ही किसान अत्यधिक बहुत संख्या में हैं ही रहेगें। गौ का दूध पोषण की दृष्टि से अनुपम है। इस प्रकार गौ से तीन वस्तुएं प्राप्त होती हैं-खाद, बैल, दूध। ये तीनों कृषि समृद्धि के आधार स्तम्भ हैं। "She is the supreme Animal before us supplying Bullocks for tilling and for traction, supplying man-

ure for the growing of crops and supplying millk for human, subsistance" (p.-52)

हमारी कृषि व्यवस्था ठीक नहीं है। यदि सारी बन्जर भूमि काम में लाई जाए, के सिंचाई कीं व्यवस्था हो, नियोजन ठीक हो तो गौओं के लाभ स्पष्ट प्रतीत होने लगेंगे। धार्मिक विश्वास को छोड़ दें तो केवल आर्थिक कारणों से ही गौ लाभप्रद सिद्ध होगी, तथा उसके विषय में यह प्रसारित भ्रम दूर हो जाएगा कि गौ आर्थिक दृष्टि से हानिकर है।

ROMANCE OF THE COWN BY D. M. JANI ? THE BOMAY HUMANITARIAN LEAGUE BOMBAY, 1 38.

प्रश्न कुरान के अनुसार गौ कुरबान करना लिखा है। यहां भारत में मुसलमान भी तो रहते हैं। केवल हिन्दुओं का ही भारत थोड़ा है।

उत्तर कुरान में यह स्पष्टतया कहीं नहीं लिखा कि कुर्बानी में गौवें ही मारी जायें। यह ठीक है कि मुसलमान भी इसी देश में रहते हैं। परन्तु उन अपने पड़ौसियों को दु:ख देकर कुर्बानी नहीं करना चाहेंगे। इसके लिये हकीम अजमल के एक लेख Hindu Muslim Unity में स्पष्ट लिखा है।

हकीम अजमल ने अपने एक लेख में (Hindu Muslim Unity, presidential Address to the All India Muslim League, Amritsar. 1919, published by Cow Protection Society, 43, Banstolla Street, Calcutta.)

कुरान के अनुसार कुर्बानी के लिये केवल गौ की हत्या लाजिमी नहीं । किसी भी अन्य प्राणी ऊंट, भेड़ बकरी को लिया जा सकता है ।

अरब, सीरिया, मिश्र, त्रिपोली, एशियाई, तुर्किस्तान के मुसलमानों ने कभी गौकशी नहीं की और किसी मुफ्ती ने यह नहीं कहा कि उन्होंने कुरान के आदेश का उल्लंघन किया है।

कुछ अहादियों (Religious Practicies) के अनुसार कुर्बानी के लिए गौ की अपेक्षा अन्य प्राणियों को प्रधानता दी जानी चाहिये । मुहम्मद साहब की धर्मपत्नी उमति सलमा ने लिखा है कि मुहम्मद ने बकरी की ही कुर्बानी की बात कही है । वे प्राथमिकता बकरी को देते हैं। (पृ० ३१)

M. M. Pickthall लिखते हैं कि उन्होंने ईद के मौके पर गौकशी की बात भारत में आकर ही सुनी । उनके अनुसार एशिया तथा यूरोप में बैल का मांस खाया जाता है, गौ का नहीं । (पृ० ३२)

यह कहा जाता है कि भारतीय मुसलमान को भेड़, बकरी के मुकाबले गाय सस्ती पड़ती है । इसलिये वह गाय की कुर्बानी देता है । इस पर हकीम अजमल खां कहते हैं कि कुरान के अनुसार गरीबों के लिये कुर्बानी देना आवश्यक नहीं । इसलिये हिन्दुओं की भावनाओं का ध्यान रखते हुए उन्हें गौकशी से बचना चाहिये (पृ० ३२)

बाबर ने हुमायुं के नाम किये वसीयतनामे में उसे यह सलाह दी थी कि वह तभी हिन्दुओं का हृदय जीत सकता है जब वह गौहत्या से बचता रहे ।

इस वसीयतनामे की एक प्रति डा० सैयद महमूद ने भोपाल स्टेट लायब्रेरी से प्राप्त की थी । (पृ० २७)

आइने-अकबरी के अनुसार अकबर की मांस से बहुत अरुचि थी। वह कहता है कि यदि वह सम्राट् न होता तो मांस खाना तुरन्त छोड़ देता। (पृ० २८)

बनियर ने अपने मुगल राज्यों के यात्रा-वृत्तान्त में लिखा है कि जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर शाह ने काठियावड़ कीं पलिताना रियासत की शत्रुजय पहाड़ों पर प्राणी-वध निषेध कर दिया था।

सम्राट् जहांगीर तथा शाहजहां ने भी यह परम्परा जारी रखी। उनके परवर्ती मुगल राजाओं मुहम्मद शाह तथा शाह आलम ने भी गोहत्या का निषेध जारी रखा। (पृ० २८)

पैगम्बर साहब भी प्राणी दया के समर्थक थे। वे अन्य मांस तो खा लेते पर गौ मांस न खाते थे। (पृ० २९)

Dr. Leitner ने Asiatic Review, 1983 में लिखा है कि "बकराईद" के बकरा में "काफ" का प्रयोग है जिसका अर्थ "बकरा" होना है। परन्तु भारत में आने पर शब्द की वर्तनी बदल गयी और यह "+आफ" घड़ा जाने लगा जिस कारण "बकरा" का का अर्थ होने लगा है "गौ"। इस प्रकार कुरान के शब्द का व्याख्यान भ्रांति का परिणाम है। (पृ०घ०)

□□

महर्षि दयानन्द का राजदर्शन

जैसा परम विद्वान ब्राह्मण होता है वैसा विद्वान सुशिक्षित होकर क्षत्रिय के योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे।

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदये) सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में (त्रीणि संदासि) तीन सभा अर्थात् विद्यार्य्यसभा, धर्मार्यसभा नियत करके (पुरुणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि से अलंकृत करें। उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समितिश्रव) संग्रामदि की व्यवस्था और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें। सभासद् और राजा को योग्य कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद। तू (मे) तेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन कर और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योगग (सभासदः) सभासद हैं वे भी सभा कीं व्यगस्था का पालन किया करें।

इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये किन्तु राजा को सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा, के अधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे तो जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे, जिस लिये (राष्ट्री)अकेला राज स्वाधीन वा उन्मत्त होके (विश धातुक) प्रजा का नाशक होता है अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाधां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ित

करता) है इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये। जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्टपुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं जैसे (राष्ट्री विशमत्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता, श्रीमान् को लूट खूट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा। इसलिये हे मनुष्यों ! जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता शत्रुओं को (जयाति) जीत सके (न पराजयते) जो शत्रुओं से पराजित न हो (राजसु) राजाओं में (अधिराज) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो (चर्कृत्यः) सभापति होने को अत्यन्त योग्य (ईडयः) प्रशंसनीय गुणकर्मस्वभावयुक्त (वन्द्यः) सत्करणीय (च उपसधः) समीप जाने और शरण लेने योग्य (नमस्यः) सबको माननीय (भख) होवे उसी को सभापति राज करे।

हे (देवाः) विद्वानों राजप्रजाजनों ! तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े चक्रवर्तीराज्य (महते ज्यैष्ठयाय) सबसे बड़े होने (महते जानराज्याय) बड़े-बड़े विद्वानों से युक्त राज्य पालने और (इन्द्रस्येन्द्रियाय) परम ऐश्यर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिये (असपत्न सुवध्वम्) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित पूर्णविधा विनययुक्त सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल शत्रुरहित सेवा करो और ईश्वर उपदेश करता है कि हे राजपुरुषों ! (वः) तुम्हारे (आयुभा) आग्नेयादि अस्त्र और शतध्नी (तोप) भुशुण्डी (बन्दूक) धनुष, बाण, तलवार आदि अस्त्र शत्रुओं के (पराणदे) राज्य करने (उत प्रतिष्कभे) और रोकने के लिये (वीडू) प्रशसित और (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) हो (युष्भाकम्) और तुम्हारी (तविषी) सेना (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे कि जिससे तुम सदा विजयी होओ परन्तु (मा मर्त्यस्यमयिनः) जो निन्दित अन्यायल काम करता है उसके

लिए पूर्व वस्तु मत हों, अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

महाविद्वानों को विद्यासभाअधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाअधिकारी तम गुणकर्मस्वभावयुक्त महान् पुरुष हो उसको राज्यसभा का पतिसम मान के सब प्रकार के उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें, सबके हितकारक कामों में सम्मति करें, सर्व-हित करने के लिये परतन्त्र और धर्मपुक्त कामों अर्थात् जो जो निजके काम हैं उनमें स्वतन्त्र रहें।

पुनः उस सभापति के गुण कैसे होने चाहिये।

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत के समान शीघ्र ऐश्वर्य-कर्त्ता, वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने-हारा, यम पक्षपातरहित न्यायधीश के समान वर्तनेवाला, सूर्य के न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष समान कोशों का पूर्ण करने वाला, सभापति होवे। जो सूर्यवत् प्रतापी सब के बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपानेहारा जिसको पृथ्वी में कड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो। और जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक दुष्टो का वन्धनकर्त्ता वड़े ऐश्वर्यवाला होवे वही सभाध्यक्ष सभाश होने के योग्य होवे।

सच्चा राजा कौन है :—

जो दण्ड है वही पुरुष राजा, वही न्याय का प्रचारकर्त्ता और सब शासनकर्त्ता, वही चार वर्ण और आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है। वही प्रजा का शासनकर्त्ता सब प्रजा का रक्षक, सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है, इसीलिए बुद्धिमान लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं। जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाय तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो बिना विचारे चलाया जाय तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है। बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जायें।

दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे। जहां कृष्णवर्ण रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा दण्ड विचारता है वहां प्रजामोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है। परन्तु जो दण्ड का चलनेवाला पक्षपात रहित विद्वान् हो तो जो उस दण्ड का चलानेवाला सत्यवादी विचार के करनेहारा बुद्धिमान् धर्म अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है उसी को उस दण्ड का चलानेहारा विद्धान लोग कहते हैं। जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता वह, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है और जो विषय में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा, क्षुद्र नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है। जब दण्ड बड़ा तेजामय है, उसको अविद्वान अधर्मातमा धारण नहीं कर सकता तब वह दण्ड धर्म से रहित कुटुम्ब सहित राजा ही का नाश कर देता है। क्योंकि जो आप्त पुरुषों के सहाय, दिद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकना और जो पवित्र आत्मा सत्याचार और सत्पुरुषों का संगी यथावत् नीति शास्त्र से अनुकूल चलनेहारा श्रेष्ठ

पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान है वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में
समर्थ होता है। इसलिए—

अब सेना और सेनापतियों के उमर राज्यधिकार, दण्ड देने
की व्यवस्था के सब कार्यों का अधिपत्य और सबके ऊपर वर्तमान
सर्वाधीश राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद शास्त्रों में
प्रवीण पूर्ण विद्या वाले धर्मातमा जितेन्द्रिय सुशीलजनों को स्थापित
करना चाहिये अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य
न्यायधीश, प्रधान और राजा ये चार सब विधओं में पूर्ण विद्वान्
होने चाहिये। न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो
तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे उस धर्म अर्थात् व्यवस्था
का उल्लंघन कोई भी न करे। इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र
निरव्रत धर्मशास्त्र आदि के बिना विद्वान सभासद हों परन्तु वे ब्रह्म-
चारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों, तब वह सभा हो कि जिसमें दश
विद्वानों से न्यून न होने चाहिये और जिस सभा में ऋग्वेद सामवेद के
जानने वाले तीन सभासद होके व्यवस्था करें उस सभा की हुई
व्यवस्था को भी कोई उल्लंघन न करे। यदि एक अकेला सब वेदों का
जानने हारा द्विजों उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही
श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों लाखों करोड़ों मिल के जो
कुछ व्यस्था करे उसको कभी न जानना चाहिए। जो ब्रह्मचर्य सत्य
भाषण आदि व्रत वेद विद्या व विचार से रहित जन्म मात्र से शूद्र
वत् वर्तमान में उन सहस्रों मनुष्यों के यिलने से भी सभा नहीं कहाती।
जो अविक्रायु वय मूर्ख वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म को
कहें उसको कभी न मानना चाहिए, क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए
धर्म के अनुसार चलते हैं उनके पीछे सैकड़ों प्रचार के पाप लग जाते
हैं। इसलिए तीनों जर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में
मूर्खों को कभी भरती न करें, किन्तु सदा विद्वानों और धार्मिकों

पुरुषों की स्क्षापना करें और सब लोग ऐसे राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना ज्ञान विद्याओं के जानने वालों से तीनों विद्या, सनातनं दण्डनीति, न्याय-विद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण कर्म स्वभवावरुप को यथावत् जाननेरूप ब्रह्मविद्या और लोक से वार्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् व सभापति हो सकें। सब सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रख के सदा धर्म में वर्ते और अधर्म से हटें हटाये रहें। इसलिए रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें, क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इस) को जीते-बिना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को सतर्थ कभी नहीं हो सकता। दृढ़ोत्साही होकर जो काम से देश और क्रोध से से आठ दुष्ट व्यसन कि जिनमें फंसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे। क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फंसता है, अर्थ अर्थात् राज्य धन आदि धर्म से रहित हो जाता है और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फसता वह शरीर से भी रहित हो जाता है। काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते है, देखो मृगया खेलना, अज्ञ आर्थात् चौपड़ खेलना आदि दिन में सोना, का दूसरे की निन्दा किया करना, स्त्रियों का अति संग, मादक द्रव्य अर्थात् मद्य अफीम, भांग गांजा चरस आदि का सेवन गाना, गजाना नाचना नाच कराना सुनना और देखना, वृथा इधर उधर घूसते रहना, ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं। क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं-'पैशुन्यम्' अर्थात् चुगली करना बिना विचारे बालात्कार के किसी की स्त्री से बुरा काम करना, द्रोह रखना, 'ईर्ष्या 'अर्थात् दूसरे की बड़ाई व उन्नति देखकर जला करना, 'असूया' दोषों में, गुण गुणों में दोष

आरोपण करना, 'अर्थदूषण' अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि का व्यय करना कठोर वचन बोलना और बिना अपराध कड़ा वचन का विशेष दण्ड देना ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं। जो सब विद्वान लोग का मज और क्रोधयों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े। काम के व्यसनों में बड़े दुर्गुण एक मद्यादि अर्थात् मादककारक द्रव्यों का सेवन दूसरा पासों आदि से जुआ खेलना तीसरा स्त्रियों का विशेष संग, चौथा मृगया खेलना ये चार महादुष्ट व्यसन हैं। और क्रोधयों में बिना अपराध दण्ड देना, कठोर वचन बोलना और धनादि का अन्याय में खर्च करना ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुये बड़े दुःखदायक दोष हैं। जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर से अन्याय से दण्ड देना। इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त संग इससे जुआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है। इसमें वह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फसने से मर जाना अच्छा है, क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा तो अधिक पाप करके नीच- नीच गति अर्थात् अधिक अधिक दुःख तो प्राप्त होता जायेगा और जो किसी व्यसन में नहीं फंसा वह मर भी जायेगा तो मी सुख को प्राप्त होता जायेगा। इसलिये विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी, मृगया और मद्यपान आदि दुष्ट कामों में न फंसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक होकर धर्मयुक्त गुण कर्म स्वभावों में सदा वर्त के अच्छे-अच्छे काम किया करें। राजसभासद और मन्त्री कैसे होने चाहिये :—

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले शूरवीर जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो और कुलीन,

अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ उत्तम धार्मिक चतुर 'सचिवान' अर्थात् मन्त्री करे। क्योंकि विशेष सहाय के बिना जो सुगम कर्म है। वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है, जब ऐसा है तो महान् राज्यकर्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिये एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है। इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से (सन्धि) मित्रता किसी से (विग्रह) विरोध (स्थान) स्थित समय को देख के चुपचाप रहना अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना (समुदयम्) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना (गुप्तम्) मूल राजसेना कोश आदि की रक्षा (लब्धप्रशमनानि) जो जो देश प्राप्त हो उस उस में शान्ति स्थापना उपद्रव रहित करना इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करें। विचार से करना कि उन सभा सदों का पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को सुनकर बहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हित कारक हो वह कहने लगना। अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे। जितने मनुष्यों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके उतने आलस्यरहित बलवान् और बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों के अधिकारी अर्थात् नौकर करे। इनके आधीन शूरवीर बलवान् कुलोत्पन्न पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में और भीरु डरने वालों को भीतर के कामों में नियुक्त करें। जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न चतुर, पवित्र, हाव भाव और चेष्टा से भीतर हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा सब शास्त्रों में विशारद चतुर है, उस दूत को भी रक्खे। वह ऐसा हो कि राजकाम में अत्यन्त उत्साह प्रीति युक्त निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला, देश

और वातानुकूल वर्तमान का कर्त्ता, सुन्दर सत्ययुक्त निर्भय और बड़ा वक्ता हो वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है। किस-किस को क्या-क्या अधिकार देना योग्य है :— अमात्य को दण्डाधिकार, दण्ड में विनय क्रिया अर्थात् जिससे अत्यन्त दण्ड न होने पावे राजा के आधीन दोश ओर राजकार्य तथा सभा के आधीन सक कार्य और दूत के आधीन किसी से मेल का विरोध करना अधिकार देवे। दूत उसके कहते हैं जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे। दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओं में फूट पड़े। वह सभापति और सब सभासद्वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जान के वैसा प्रयत्न करें कि जिससे अपने को पीड़ा न हो। इसलिये सुन्दर जंगल धनधान्ययुक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन (महीदुर्गम्) मरजी से किया हुआ (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन (नुदुर्गम्) चारों ओर सेना रहे (मिरिंदुर्यम्) अर्थात् चारों और पहाड़ों के बीच में काटे गना के इसके मध्य में नगर बनावे। और नगर के चारों ओर (प्रकार) प्रकाटे बनावे, क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी शस्त्रयुवतपुरुष सौ के साथ और सौ दश हजार के साथ युद्ध कर सकते हैं इसलिये अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है। वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन, धान्य, वाहन ब्राह्मण जो पढ़ाने उपदेश करनेहारे हों, शिल्पी 'कारीगर, यन्त्र, नाना प्रकार की कला, 'यवकेन' चारा घास और जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो। उसके मध्य में जल वृक्ष पुष्पादिक सब प्रकार से रक्षित, सब ऋतुओं में सुखकारक, श्वेतवर्ण अपने लिये घर जिरमें सब राजकार्य का निर्वाह हो वैसा बनवावे। इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ के यहां तक राजकाम करके पश्चात् सौन्दर्य-रमणगुण युक्त अपने हृदय को अतिप्रिय बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न सुन्दर सक्षणयुक्त अपने क्षत्रिय कुल की कन्या जो कि अपने सदृश

विद्यादि गुण कर्म स्वभाव में हो उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे दूसरी सब स्त्रियों को भगिनी समझ कर दृष्टि से भी न देखे । पुरोहित और ऋत्विज का स्वीकार इसलिये करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजधर्म के कर्म किया करें और आप सर्वदा राज-कर्य में तत्पर रहे, अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है जो रात दिन राजकार्य में सम्पृक्त रहना और कोई राजकाम बिगड़ने न देना ।

वार्षिक कर आप्त पुरुषौं के द्वारा ग्रहण करे, और जो सभा-पतिरुप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं, वे सब सभा वेदानुकूल होकर प्रजा से साथ पिता के समान वर्ते । उस राज्य कार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करें, इनका यही काम है जितने-जितने जिस जिस काम में राजपुरुष हों वे नियमानुसार वर्त कर यथावत् काम करते हैं या नहीं, जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो बिरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड़ किया करें । सदा जो राजाओं का बेद अक्षय कोष है इसके प्रचार के लिये जो कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवें उनका सत्कार राजा और सभा यथावत् करें तथा उनका भी जिनके पढ़ाय हुए विद्बान होवें । इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है ।

जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आवाह्न करे तो क्षत्रियों के धर्म का स्म ण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत न हो, अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करें जिसके अपना ही विजय हो । जो संग्रामों में एक दूसरे को हवन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग जितना अपना सामर्थ्य हो बिना डर पीठ न दिखा युद्ध करते हैं वे

सुख को प्राप्त होते हैं इससे विमुख कभी न हो किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने से छिप जाना उचित है, क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें, जैसा क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में बीच भस्म हो जाता है वैसे मूर्खता से नष्ट भ्रष्ट न हो जावें। युद्ध समय में न इधर उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, न बैठे हुए, न 'मैं तेरे शरण हूं' ऐसे को न सोते न मूर्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखने वालों, न शत्रु के साथी। न आयुध के प्रहार से पीठ को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए और न और न पलायन करते हुए पुरुष को, सत्पुरुषों के सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए, योद्धा लोग कभी मारें किन्तु उनको पकड़ के जो अच्छे हों बन्दीगृह में रख दे और भोजन आच्छादन यथावत् देवे और जो घायल हुए हों उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिड़ावे न दुःख देवे जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर ध्यान रक्खे कि स्त्री, बालक, वृद्व और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़के वालों को अपने सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले। उनको अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयशक्ति की दृस्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाय और जिन में पुनः युद्ध करने की शंका न हो, उनको सत्कार पूर्वक छोड़ कर अपने घर का देश को भेज देज देवे और जिस से भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो उनको सदा कारागार में रक्खे। और जो पलायन अर्थात् भागे और डरा हुआ मृत्य शत्रुओं से मारा जाय वह उस स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे। और जो उसकी प्रतिष्ठा है जिससे इस लोक, और परलोक में सुख होने वाला था उसको उसका स्वामी ले लेता है। जो भागा हुआ मारा जाय

उसको कुछ भी सुख नहीं होत। उनका पुण्यफल नष्ट हो जाता और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो। इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य का अध्यक्ष ने रथ, थोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, गाय आदि सशु और स्त्रियां तथा अनेक प्रकार के सब द्रव्य और घी, तेल आदि के कुप्ते जीते हों, वही उनका ग्रहण करे। परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में के सोलहवां भाग राजा को देवे और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उस का भाग देवे, उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़के का यथावत् पालन करे। जब उसके समर्थ हो जावे तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि प्रतिष्ठा, विजय और आनन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभीं न करो।

राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे रक्षित को बढावे और बढ़े हुए धन को वेदविधा, धर्म का प्रचार, विधार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे। इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने आलस्य छोड़कर इसका भलीभांति नित्य अनुष्ठान करे। दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि अर्थात् ब्याजादि से बढ़ावे और बढ़े हुए धन को पूर्वोवल मार्ग में नित्य व्यय करो। कदापि किसी के साथ छल ने न वर्ते किन्तु निष्कपट होकर सब से वर्ताव रक्खे और नित्यप्रति अपनी रक्षा करके शत्रु के किये छल को जान के निवृत करे। कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके और स्वयं शत्रू के छिद्रों को जानता रहे, जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है वैसे शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र गुप्त रक्खे। जैसे बगुल ध्यानावस्थित होकर मछली के

पकडने को ताकता है वैसे अर्थ संग्रह का विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिये सिंह के समान पराक्रम करे। चीता के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े और समीप में आये बलवान शत्रुओं से सस्ता के समान दूर भाग जाय और पश्चात् उनको छल से पकड़े। इस प्रकार विजय करने वाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी अर्थात् डाकू लुटेरे हों उनको मिला लेना (दाम) कुछ देकर (भेद) फोड़-तोड़ करके वश में करे और जो इनसे वश में न हो तो अतिकठिन दण्ड से वश में करे। जैसे धान्य का निकालने वाला छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है वैसे राजा डाकू चोरों कौ मारे और राज्य की रक्षा करे। जो राजा मोह से, अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है वह राज्य और अपने बन्धु सहित जीवन से पूर्व ही शीघ्र नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। जैसे प्राणियों के प्राग शरीरों को कृषित करने से क्षीण हो जाते हैं वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं। इसलिये राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धी के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हों, जो रजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसको सुख सदा बढ़ता है।

इसलिये दो, तीन, पांच और सो ग्रातों के बीच में एक राजस्थान रक्खे जिसमें यथायोग्य मृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्य के कार्यो को पूर्ण करे। एक एक ग्राम में एक एक प्रधान पुरुष को रक्खे, उन्हीं दस ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर, तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां पुरुष रक्खे, अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना और दो

थानों पर बड़ा थाना और उन पांच थानो पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है यह वही अपने मनु आदि धर्म शास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है। इसी प्रबन्ध करे और आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का प्रति ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों उन को गुप्तता से दश ग्राम के प्रति को विदित करदे और वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वतमान नित्यप्रति जना देवे। और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतभापति को नित्यप्रति निवेदन करे वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति को नित्यप्रति हजार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जगाया करें। और बीस-बीस ग्राम के पांच अधिपति सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र सहस्र के दश अधिपति दशसहस्र के अधिपति को और लक्षग्रामों की राजसभा को प्रतिदिल का वर्तमान जनाया करे। और वे सब राजसभा महाराज सभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती–महाराज सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें। और एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें। बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है वैसा एक-एक घर बनावें, उनमें वड़े-बड़े विधावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो वे बैठकर विचार किया करें, जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो वैसे-वैसे नियम और विधा प्रकाशित किया करें। जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके आधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें। उनसे सब राज और प्रजा पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका

अपराध हो उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे। राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे वे धार्मिक सुपरीक्षित विद्वान कुलीन हों उनके आधीन प्रायः शठ और परपदार्थ हरनेवाले चोर डाकुओं को भी नौकर रखके उनको दुष्ट कर्म से बचाने के लिये राजा की नौकरी करके उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनमे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे। जो राजपुरुष अन्याय वादी प्रतिवादी गुप्त धन ले के पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सके, क्योंकि यदि जसको दण्ड न दिवा जाय तो उसको देख के अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें और दण्ड दिया जाय तो बचे रहें। परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षोम भलीभांति हो और वे भलीभांति धनाढ्य भी हों उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक अथवा एकबार मिला करे और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जिये तब तक वह जीविका बनी रहे पश्चात् नहीं, परन्तु इनके सन्तानों कां, सत्कार व नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सबके निर्वाहार्थं राज की ओर से यथा-योग्य धन मिला करे परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ न मिले ऐसी नीति राजा बराबर रक्खे।

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजतुरुष वा प्रजाजन सुखरुप फल से युक्त होवे वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में कर स्थापन करे। जैसे जैसे वछड़ा और भंवरा थोडे-थोडे भोग पदार्थ को ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे। अतिलोभ से अपने व दूसरों के मुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे, क्योंकि जो व्यबहार और सुख के मूल का छेदन करता

है वह अपने को और उनको पीड़ा ही देता है जो महीपति कार्य को देख के तीक्ष्ण और कोमल भी होवे वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से राजा अति माननीय होता है। इस प्रकार सब राज्य का प्रबन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमादरहित होकर अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे। जिस भृत्य सहित देखते हुए राजा के राज्य में से डाकू लोग रोती विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं वह जानो भृत्य अमात्य सहित मृतक है जीता नहीं और महादुःख का पाने वाला है। इसलिये राजाओं का प्रजापालन करना ही परमधर्म है और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय कर लेना लिखा है और जैसा नियत करे उसका भोक्ता राजधर्म से युक्त होकर सुख पाता हैइससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है।

जब पिछली पहर रात्रि रहे तब उठ शौच और सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान, अग्निहोत्र धार्मिक विद्वानों का सत्कार और भोजन करके भीतर सभा में प्रवेश करे। वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको छोड़कर मुख्य मन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे। पश्चात् उसके साथ घूमने चला जाय, पर्वत की शिखर अथवा एकान्त घर वा जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थान में बैठकर विरुद्ध भावना को छोड़ मन्त्री के साथ विचार करे। जिस राजा के गूढ़ विचार को अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते अर्थात् विचार गम्भीर शुद्ध परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे वह धनहीन भी राजा सब पृथ्वी के राज्य करने में समर्थ होता है। इसलिए अपने मन से एक भी काम न करे कि जब तक सभासदों की अनुमति न हो।

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है, जो (आसन) स्थिरता (यान) शत्रु से लड़ने के लिये (सन्धि) उनसे

मेल कर लेना (विग्रह) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना द्वैध) दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना और (संश्रय) निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म यथायोग्य कार्य को विचार कर उसमें युक्त करना चाहिये। राजा जो संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय दो दो प्रकार के होते हैं उनको यथावत् जाने। (संधि) शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय, यह दो प्रकार का मेल कहाता है। (विग्रह) कार्यसिद्धि के लिये उचित समय वा अनुचित समय में स्वयं किया वा मित्र के अपराध करने वाले शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिये। (यान) अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में एकाकी वा मित्र के साथ मित्र के शत्रु की ओर जाना यह दो प्रकार का गमन कहाता है। स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण हो जाय अर्थात् निर्बल हो जाय अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठ रहना, यह दो प्रकार का आसन कहाता है। कार्यसिद्धि के लिये सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना दो प्रकार के द्वैध कहाता है। एक किसी अर्थ की सिद्धि के लिये किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा की शरण लेना जिससे शत्रु से पीड़ित न हो दो प्रकार का आश्रय लेना कहाता है। जब यह जान ले कि इस समय युद्ध करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे। जब अपनी सब प्रजा सेना अत्यन्त प्रसन्न उन्नतिशील और श्रेष्ठ जाने, वैसे अपने को भी समझे तभी शत्रु से विग्रह (युद्ध) कर लेवे। जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्न भाव से जाने और शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जावे। जब सेना बलवान से क्षीण हो जाय तब शत्रुओं को

धीरे धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ अपने स्थान पर बैठा रहे। जब आप समझ लेवे कि अब शीघ्र शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी तभी किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे। जो प्रजा और अपनी सेना शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् रोके उसकी सेवा सेवा यत्नों से गुरु के सदृश नित्य किया करे। जिसका आश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे तो वहां भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशुल्क होकर करे। जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और दुष्ट प्रबल हो उसी के जीतने के लिये ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है।

नीति का जानने वाला पृथ्वीपति राजा जिस प्रकार इसके मित्र उदासीन (मध्यस्थ) और शत्रु अधिक न हो ऐसे सब उपायों से वर्ते। सब कार्यों का वर्तमान में कर्तव्य और भविष्यत् में जो करना चाहिये और जो जो काम कर चुके उन सबके यर्थाथता से गुण दोषों को विचार करे। पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे। जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करने वाले कर्मों में दोषों का ज्ञाना, वर्तमान तुरन्त निश्चय का कर्ता और किये हुए कार्यों में शेष कर्तव्य को जानता है वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता। सब प्रकार से राजपुरुष विशेष सभापति राजा ऐसा प्रयत्न करे कि जिस प्रकार राजादि जनो के मित्र उदासीन और शत्रु को वश में करके अन्यथा न करावे ऐसे मोह में कभी न पड़े, यही संक्षेप नय अर्थात् राजनीति कहाती है।

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे तब अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध औंर यात्रा की सामग्री यथाविधि करके सब सेना यान, वाहन, शास्त्रस्त्र आदि पूर्ण लेकर सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देनेवाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की

ओर युद्ध करने को जावे। तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक स्थल (भूमि) में दूसरा जल (समुद्र वा नदियों) में तीसरा आकाश मार्गों को शुद्ध बनाकर भूमि मार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों से जावे और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े शस्त्र और अस्त्र खानपान आदि सामग्री को यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे। जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने जाने में उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खे, क्योंकि भीतर शत्रु उस मित्र को बड़ा शत्रु समझना चाहिये। सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सीख और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे। जो पूर्वशिक्षित योधा होते हैं वे ही अच्छे प्रकार लड़ लड़ा जानते हैं। जब शिक्षा करे तब (दण्डव्यूह) दण्ड के समान सेना को चलाते (शकट०) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान (वराह०) जैसे सुअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते और कभी-कभी सब मिलकर झुण्ड हो भगते हैं वैसे (मकर०) जैसे मगर पानी में चलते हैं वैसे सेना को बनावे, (सूचीव्यूह) जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षा से सेना को बनावे, जैसे (नीलकण्ठ) ऊपर नीचे झपट मारता इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे। जिधर भय विदित हो उसी ओर सेना को फैलावे, सेना के पतियों को चारों ओर रख के (पद्मव्यूह) अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेना को रखके मध्य में आप रहें। सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा को देने और सेना वैसा लड़ने लड़ानेवाले वीरों को आठों दिशाओं में रक्खे, जिस ओर से लड़ाई होती हो उसी सब सेना का मुख रक्खे। परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे। नहीं तो पीछे से पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है। जो गुल्म

अर्थात् दृढ स्तम्भों के तुल्य युद्धविद्या से सुशिक्षित स्थित होने और युद्ध करने में चतुर भयरहित और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो उनको चारों ओर सेना के रक्खे। जो थोड़े से पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे और काम पडे तो उन्हीं को झट फैला देवे। जब नगर दुर्ग का शत्रु सेना में प्रविष्ट करना हो तो (सूचीव्यूह) अथवा वज्रव्यूह) जैसे दुधारा खड्ग दोनों और काट करता वैसे युद्ध करते जाय और प्रविष्ट भी होते चलें वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावे, जो सामने शतघ्नी (तोप) वा भुशुण्डी (बन्दूक) छूट रही हो तो (सर्वव्यूह) अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जायें तब तोपों के पास पहुँचे तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारे अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें, बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें, एक बारा धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें। जो समभूमि में युद्ध युद्ध करना हो तो युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से, और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में वाण तथा स्थल बालू में तलवार और ढाले से युद्ध करें करावें। जिस समय युद्ध होता हो उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें, जब युद्ध बन्द हो जाय तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृता से सबके चित को खान-पान अस्त्र-शस्त्र सहाय और औषध आदि से प्रसन्न रक्खें व्यूह के बिना लड़ाई न करे न करावे, लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक लड़ती है वा कपट रखती है। किसी समय समझे तो शत्रु को चारों ओर से घेर कर रोक रक्खे और इसके राज्य को पीड़ित कर शत्रु के चारा, अन्न, जल और इन्धन को नष्ट दूषित कर

दे। शत्रु के तालाब नगर प्रकोट और खाई को तोड़-फोड़ दे, रात्रि में उनको (त्रास) भय देवें और जीतने का उपाय करें। जीत कर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा करदे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है उसके अनुसार चल के न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसे उपदेश करे और ऐसे पुरुष उनके पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। और जो हार जाय जसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे। क्योंकि संसार में दूसरे का ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना है और उस पराजित के मनोवांच्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है, और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न हंसी और न ठण्डा करे, न उसके सामने हमने तुझको पराजित किया है ऐसा भी कहे, किन्तु आप हमारे भाई हैं इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे।

मित्र का लक्षण यह है कि राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति वैसा नहीं बढ़ता कि जैसा निश्चल प्रेमयुक्त भविष्यत् की बातों को सोचने और कार्य सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को भी प्राप्त होके बढ़ता है। धर्म को जानने और कृतज्ञ अर्थात् किये उपकार को सदा माननेवाले प्रसन्न स्वभाव अनुरागी स्थिरारम्भी लघु छोटे भी मित्र को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है। सदा इस बात को दृढ़ रक्खें कि कभी बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता

किए हुए को जाननेहारे और धैर्यवान् पुरुष को शत्रु न बनावे, क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा वह दुःख पावेगा। उदासीन का लक्षण जिसमें प्रशंसित गुणयुक्त अच्छे बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और करुणा भी स्थूललक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे वह उदासीन कहाता है।

पूर्वोक्त प्रातःकाल समय उठ शौचादि सन्ध्योपासन अग्निहोत्र कर वा करा सब मन्त्रियों से विचार कर सभा में जा सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूह-शिक्षा अर्थात् कबायद कर करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि का स्थान शस्त्र और अस्त्र का कोश तथा वैताल, धन के कोशों को देख सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हों उनको विकाल व्यायामशाला में जा व्यायाम करके मध्याह्न समय भोजन के लिये 'अन्तःपुर' अर्थात् पत्नी आदि के निवास स्थान में प्रवेश करें और भोजन सुपरीक्षित, बुद्धि-बल-पराक्रमवर्द्धक, रोगविनाशक अनेक प्रकार के अन्न-व्यञ्जन पात आदि सुगन्धित मिष्ठानादि अनेक रस-युक्त उत्तम करें कि जिससे सदा सुखी रहे, इस प्रकार सब राज्य के कार्यों की उन्नति करे।

□□□

टिप्पणी— यह लेख सत्यार्थ प्रकाश के छटें समुल्लास का सरलीकरण है। यह अलग से "गोवर्धन ज्योति" के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

वैदिक चुनाव पद्धति

वेद मानव समाज की आदि सांस्कृतिक थाती है, इसलिए विश्व की प्रत्येक सभ्य जाति अपने मानव पूर्वजों के अन्वेषणार्थ वेदों के अध्ययन एवं गवेषणा पर ध्यान देती है। जहां उन वेद के ऋषियों ने प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य्र को देखकर आत्मा-परमात्मा और प्रकृति सृष्टि सम्बन्धी चिन्तन पर ध्यान दिया, वहीं मानवीय समाज की व्यवस्था निर्माण राज्य आदि जीवन के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला। जो प्रकाश उस काल में जितना दीप्त एवं आवश्यक था उतना ही दीप्त और कही अधिक आवश्यक आज के युग में है।

प्रो० मैक्समूलर का वेद-विषयक यह कथन कि— "भारतीय कभी भी राष्ट्रीयता की भावना से परिचित नहीं थे, भारतीय मस्तिष्क को कार्य करने, रचना करने एवं पूजा करने की स्वतन्त्रता केवल धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में मिली थी। भारत दर्शनिकों का राष्ट्र था। कुल मिला कर विश्व इतिहास में कोई ऐसा दूसरा उदाहरण प्राप्त नहीं होता, जहां समस्त लोगों के जीवन के सभी पहलुओं को आत्मा सम्बन्धी जीवन ने इता आच्छादित कर लिया हो। वस्तुतः वे सभी विशेताएं नष्ट हो गयीं, जिनसे कि एक राष्ट्र इतिहास में अपना स्थान बनाता है।"1

इस प्रसङ्ग में ही डा० भाण्डारकर का यह कथन सर्वथा उचित है कि—"किसी भी भारतीय को तब तक शिक्षित नहीं कहा जा

---

१ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर–मैक्समूलर पृ० ३०, ३१।

सकता जब तक कि वह अपने देश के इतिहास से परिचित नहीं और उसे अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्राचीनता का ज्ञान नहीं।"[1]

इस कथन के परिप्रेक्ष्य में जब हम विचार करते हैं तो हमें मैक्समूलर का यह कथन सर्वथा निराधार प्रतीत होता है क्योंकि अथर्ववेद के नामों में से एक 'क्षत्रवेद'[2] स्पष्ट रूप से राजनीति के महत्त्व, राज्य, राष्ट्र इत्यादि की ओर इंगित करता है।

इसी प्रकार अथर्ववेद में राज्य शासन-सम्बन्धी, विजय-सम्बन्धी, राजा-चयन, राष्ट्र, सभा, समिति आदि पर बहुत विस्तार से प्रकाश डाला है।

वर्तमान समय में जब सम्पूर्ण मानवता एक विश्व सरकार की कल्पना करती है, तो वह कल्पना भी प्राचीन भारतीय मनीषियों की ही देन प्रतीत होती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार— "राजा को अश्वमेध अवश्य करना चाहिए, क्योंकि अश्वमेध यज्ञ करने वाला सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत लेता है[3] इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी को एक समान शासन समान सुविधा एवं परस्पर सौहार्द पूर्वक रहते हुए उक्त सौमनस्य प्रदान करना उसका उद्देश्य था।

वेद के भाष्यकारों में स्वामी दयानन्द ने वेदज्ञों को केवल यज्ञ-यागादि में लिप्त रहकर समाज के प्रति उनके उत्तरदायित्व से अवगत कराया। सत्यार्थ प्रकाश (षष्ट समुल्लास) एवं ऋग्वेदादिभाष्य-

---

१ सम एसपेक्ट्स ऑफ एन्सिएन्ट पोलिटी—डा० भाण्डारकर पृ० १।

२ अथर्व संहिता की भूमिका—सातवलेकर।

३ राष्ट्रं वै अश्वमेधः तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत्, अश्वमेध याजी सर्वदिशोऽभिजयति — शतपथ ब्राह्मण।

भूमिका में "अथ राज-प्रजा-धर्म-विषय:" लिखकर उन्होंने इसका बीज वपन किया और इस ओर सक्रिय योगदान भी दिया। उनका यह कथन कि "स्वदेशी राज्य खराब होता हुआ भी विदेशी राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है।"

इस प्रकरण में हम राजा के चयन की वैदिक पद्धति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहेंगे, क्योंकि इस लघु लेख में सम्पूर्ण वैदिक राजनीति पर विचार करना सम्भव नहीं है।

राजनीति का सम्पूर्ण प्रासाद जिस स्तम्भ पर खड़ा होता है। सम्पूर्ण नीति जिसके चतुर्दिक् घूमती है, वह केन्द्र-बिन्दु राजा ही है। वैदिक ऋषियों ने अपनी क्रान्तदर्शी प्रज्ञा से इस सत्य का अवलोकन किया था—कि "राजा से रक्षित भूमि ही स्थिरता सम्पन्न राष्ट्र का रूप धारण कर सकती है तभी नागरिक अहत, अक्षत और विजयी होकर चिरकाल तक रह सकते हैं।[1] इसलिए अथर्वा ऋषि ने प्रार्थना की कि–'हे देव ! हमें राजा से प्रेरित एवं अनुप्राणित राष्ट्र प्रदान करो।'[2] आचार्य चाणक्य भी कहते हैं कि–मात्स्य-न्याय के पीड़ित होकर ही प्रजाओं ने पुराकाल में वैवस्वत मनु को अपना राजा चुना था।"[3] भगवान् वेद व्यास[4] एवं आदि-कवि-वाल्मीकि[5] भी इसी मत के हैं।

---

१ अथर्व—१२.१.११.

२ अथर्व—६.३९.२

३ कौटिलीय अर्थशास्त्र—१.१३.६.

४ महा० शान्ति० ६६.५.

५ वा० रामायण अयो० ४३.८.१२.

राजा बनने का मूल आधार प्रजा का प्रिय होना और प्रजा का प्रिय वही हो सकता है जो लोकानुरञ्जन में समर्थ हो। अथर्वा ऋषि राजा शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि— 'वह अनुरञ्जन करता है तभी राजा बना है।[1] कालिदास[2], व्यास[3] तथा चाणक्य[4] भी इस गुण को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

राजा के पद पर सदा क्षत्रिय वर्ण के पुरुष का ही चयन किया जाता है। ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र को राज्य में उनके गुण क्रमानुसार अन्य कार्य दिये जा सकते थे। परन्तु राजा का पद दिये जाने का कोई विवरण वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता। यजुर्वेद का मन्तव्य है कि—'जो सूर्य के समान तेजस्वी आन्तरिक आनन्द में रहने वाले, भूमि एवं गौ आदि पशुओं की रक्षा करने वाले, कामना करने योग्य, सामर्थ्य-युक्त, मनुष्यों का पालन करने वाले, विश्व के भरण-पोषण में समर्थ प्रकाशमान हों, ऐसे गुण सम्पन्न क्षत्रिय पुरुष को ही राज्य प्रदान करके आनाधृत हो जाओ, क्योंकि यह पृथ्वी महान् क्षत्रियत्व से ही पालित एवं रक्षित होती है।[5] राजा पद का प्रत्याशी होने के लिए यह आवश्यक है कि राजा उसी क्षेत्र एवं उसमें रहने वाली प्रजाओं में से हो अर्थात् उसका नागरिक होना अनिवार्य शर्त है। अथर्ववेद का 'अन्तरभू'[6] शब्द इसका पुष्ट प्रमाण है।

---

१ सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत अथर्व १५.८.१.

२ रघु० ४.१२.

३ राञ्जिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते।

महा० शान्ति० ५९.१२५

४ चाणक्य सूत्र—५५७।

५ यजु० १०.४.

६ अथर्व ६.८७.१.

ऐसा प्रतीत होता है कि राजा पद के एकाधिक प्रत्याशी होते थे। वर्तमान काल की भांति वैदिक काल में भी प्रत्याशी विजय के उद्योग किया करते थे, जिसमें सम्पूर्ण प्रजा से 'पर्णमणि' (मतपत्र) करने की प्रार्थना की जाती थी।

चयन की दो पद्धतियां प्रचलित थीं, प्रथम जिसमें सम्पूर्ण प्रजा प्रत्यक्ष रूप से राजा का वरण करती है कि राजन् राज्य प्रबन्ध चलाने के लिये राष्ट्र की सम्पूर्ण दिशाओं में रहने वाली पांचों प्रकार की मत देने वाली प्रजाएं तुम्हारा वरण करें। चयन होने पर हे श्रेष्ठ, राष्ट्र के उत्तम स्थान पर बैठो और प्रजाओं को धन-धान्य से सम्पन्न करो।[1] चयन के साथ ही प्रजाएं उस राजा से कुछ विशेष आशाएं करती थीं उदाहरणार्थ उपरोक्त मन्त्र में धन की कामना की गयी है। कहीं पर राक्रम करने की शत्रुदमन करने की प्रार्थना की जाती थी।[2]

राजा का चयन करने वाली इस प्रजा में बहुत छोटे स्तर के पुरुषों से लेकर मनीषियों तक सभी स्तर के लोग होते थे। राजपद का प्रत्याशी सभी से अपने को वरण करने की प्रार्थना करता था। इन लोगों में धींवर, रथ बनाने वाले बढ़ई इत्यादि कारीगर, लौहार तथा कर्मकर एवं तत्त्व, चिंतक, मननशील पुरुष भी होते थे।

चयन की दूसरी पद्धति वह है। जिसमें कुछ लोग ही राजा का चयन करते थे, इसी कारण इन्हें राजकृत कहा जाता था। इनमें

---

१ वही ३.४.२.

२ वही ४.८.४.

कुछ मुखिया होते थे, कुछ सूत से सम्बोधित होते थे।1 ये सभी गुप्त-रूप से मतपत्रों द्वारा राजा का चयन करते थे। यह पर्णमणि नामक मतपत्र सम्भवतः किसी लकड़ी के बने बड़े बक्स में गुप्तरूप से डाले जाते थे।

पर्णमणि के स्थान पर इसे वरणमणि भी कहा गया है जैसे यह सूर्य तेजस्वी है। इसी प्रकार यह वरणमणि मुझे कीर्ति एवं ऐश्वर्य प्रदान करे, इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा युक्त प्रार्थनाएं हमें प्राप्त होती हैं। अथर्व (१०.३.१२) में यह स्पष्ट है। यह पर्णमणि या वरणमणि सामान्य पत्ते या लकड़ी न होकर एक राजाचिन्ह होता था जैसा कि वर्तमान काल का मतपत्र एक सामान्य कागज मात्र न होकर राजाचिन्ह युक्त एक महत्त्वपूर्ण अधिकार पत्र है, जिससे सारे राष्ट्र का भाग्याभिलेख तैयार किया जाता है।

अनेक स्थानों पर 'तमु देवा अवीवरन्' (अथर्व-१०.३.५) 'विशी राजा प्रतिष्ठितः' (ययु० २०.९) 'विशोन राजानं वृणाना' (ऋक्-१०.१२४.८) इत्यादि वाक्यांश समुचित रूप से राजा के चवन पर प्रकाश डालते हैं।

इस चयन का कारण यह है कि राजा प्रजा का प्रतिनिधि बनकर रहे तथा राजषद के प्रत्याशियों में जो सर्वश्रेष्ठ हो उसको चुना जा सके जिससे यह राष्ट्र इन्द्र के गुणों से युक्त राजा का चयन कर सके। वृत्र के तुल्य कोई दुष्ट इस राज्य का अधिपति न हो जाये।2 राजा को वरण किये जाने के कारण वरुण भी कह

---

१ अथर्व ३.५.७.

२ वही १२.१.३७.

दिया गया है। 'यह व्रतधारी सबके द्वारा वरण किया हुआ राजा साम्राज्य को उत्तम मार्ग पर ले जाने के लिए सिंहासन पर बैठ गया है।[1] गोपथ ब्राह्मण में वरूण की यही व्युत्पात्ति की है।[2]

यह चयन पद्धति उत्तर वैदिक काल में भी बहुत समय तक रही। वाल्मीकि रामायण में भी इसका राज्याभिषेक करने के लिए 'राजानो लोकसम्मता:'(अयो०का० १.४६-४७)तथा 'ब्राह्मणा: बलय: मुख्याश्च पौर जानपदै: सह समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागत बुद्धः (अयो० २१५०-५१) इसी चयन पद्धति का उल्लेख हुआ है। यह स्पष्ट ही अथर्व ३.४.२. अर्थात् राज्य के निवासी जो सभी दिशाओं में रहने वाले हैं तुम्हें राज्य के लिए वरण करो।' का प्रतिबिम्ब है।

राजा का चयन दीर्घकाल के लिए किया जाता था।[3] यदि राजा ठीक प्रकार से कार्य करता रहे तो वह आयु पर्यन्त राजा बना रह सकता था।[4] चयन के पश्चात् विधिवत् घोषणा की जाती थी कि—इस महान् क्षत्रियत्व पर अधिकार के लिए, सर्वोच्च स्थान के लिए, जनराज्य के इन्द्ररूप पद के लिए, देवों ने इस पुरुष को निर्विरोध या अद्वितीय रूप से चुना है। अमुक पुरुष और अमुक नारी के पुत्र को इस प्रजा के सौभ्यगुण युक्त राजा पद पर नियुक्त किया गया है, यह हम ब्राह्मणों (ब्राह्मण - परिषद्) का भी

---

१ यजु० १०.२७.

२ तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते। पूर्व गोपथ १.६.

३ अथर्व ६.८८.१.

४ वही १०.३.१२,

राजा हो गया है।[1] इसलिए यह राजा सबके ही द्वारा नमन करने योग्य है।[2]

सबसे श्रेष्ठ स्थान पर चुने जाने पर, अग्रगण्य होने पर भी वह जनता का प्रथम सेवक है, जनता की सेवा पर ही उसकी स्थिति निर्भर है। वह प्रजाओं की इच्छाओं के पीछे चलने वाला है।[3] प्रजा की इच्छा के विपरीत उसकी कोई इच्छा नहीं, प्रजा के सुख के अतिरिक्त राजा का कोई अन्य सुख नहीं। वह जनता रूपी स्वामी, राजा रूपी सेवक को कर रूपी वृत्ति प्रदान करतीं है। जिसके कारण वह जनता का दास्य स्वीकार करता।"[4] अथर्व (२०.१५.४) की व्याख्या में आचार्य **सायण** कहते हैं कि प्रजाजें राजा से जो कुछ कहती हैं, राजा उसे स्वीकार करता है।

राजा को कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिये। शत-पथ **ब्राह्मण** का मत है कि—यदि राजा प्रजा से स्वतन्त्र होगा तो वह प्रजा को नष्ट कर देगा, क्योंकि अप्रतिबन्धित राजा प्रजा का नाशक होता है। अतः किसी एक को राज्य में स्वतन्त्र नहीं करना चाहिये। जैसे मांसाहारी पशु किसी पुष्ट पशु को खा जाते है। उसी प्रकार स्वतन्त्र राजा भी प्रजा को खा जाता है।[5]

---

१ यजु० १०.१८.

२ तस्मै विशः समनमन्तः यजु० १७.२४

३ स विशोऽनु व्यचलत् अथर्व १५.६.१.

४ स्व भागभृतया दास्यत्वे प्रजानाञ्च नृपः कृतः। ब्रह्मणा स्वामी रूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा। शुक्रनीति १.१८८।

५ शतपथ ब्राह्मण काण्ड १३ प्रपाठक २ ब्रा० ३ काण्डिका ७-८।

वाल्मीकि रामायण में बालिवध के प्रसङ्ग में न "वयं स्व वशे स्थिता:" कहकर राजा को स्वेच्छाचारी होने से बचाया है। अत: राजा जनता के प्रति प्रतिबद्ध होता था। वह राजा, प्रजा के धन सम्पत्ति, प्राण राष्ट्र की भूमि एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिये वचन-बद्ध होता था। ब्रह्म-शक्ति एवं क्षत्र-शक्ति के मिलन स्थल इस पुण्यमय राष्ट्र के लिये व्रतपति अग्नि के सम्मुख व्रत और श्रद्धापूर्वक दीक्षित होता था।[1]

अपना वचन पालन न करने पर वह राज्य च्युत भी किया जा सकता था। कौटिल्य के अनुसार 'प्रजा का विद्रोह ही सबसे बड़ा कोप है।[2] एक बार राज्य-च्युत होने पर वह पुन: इस पद पर चुना जा सकता था। विभिन्न संस्थाएं इतनी सबल थीं कि वे राजा द्वारा प्रजा को शोषण से बचा सकती थी।

महर्षि दयानन्द के अनुसार–तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिये। एक मनुष्य को कभी राजा नहीं मानना चाहिये। ये तीन सभाएं है– १–आर्य राजसभा राज्य प्रबन्ध हेतु २–आर्य विद्या सभा (सब प्रकार के ज्ञानी के प्रचार–प्रसार हेतु) ३–आर्य धर्म सभा (धर्म के प्रचार और अधर्म के नाश के लिये। इन सभाओं से सब शत्रुओं को जीतकर सम्पूर्ण सुखों से विश्व को परिपूण करना चाहिये।[3] परन्तु महर्षि ने इसी ग्रन्थ के इसी प्रकरण के चतुर्थ श्लोक 'देवस्य त्वा' इत्यादि की व्याख्या में लिखा है कि—"जो कोई सभा

---

१ यजु० २०.२४-२५।

२ प्रकृति कोपोहि सर्व कोपेभ्यो गरीयान्, कौटि० अर्थ०।

३ ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका–राजप्रजाधर्म–मन्त्र १ की व्याख्या।

अध्यक्ष होने के योग्य हो, उस का हम अभिषेक करें।" इससे विदित होता है कि स्वामी जी दोनों ही प्रणालियों से सहमत थे।"

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के समान ही अत्यन्त प्राचीन काल में भी भारतीय प्रज्ञाविधान ऋषियों को यही प्रणाली स्वीकार्य रही।

□□

शिक्षा के मूल तत्त्व

नैतिक शिक्षा का अभाव—

सदा से ही शिक्षा का प्रयोजन रहा है 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् अपने को जानो। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है जीवन में उच्चतम संस्कारों का आरोपण। शिक्षा का मुख्य प्रयोजन मानव की पशुता के स्तर से ऊपर उठा कर संस्कारी जीव का निर्माण करना हैं। प्राचीन गुरुकुलों में गुरु के संरक्षण में अध्ययनरत् तरुण आध्यात्मिक सत्यों के प्रकाश में जीवन का यथार्थ खोजता था। आज भी शिक्षा संस्थानों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिये कि यहां से जब ब्रह्मचारी बाहर जाये तो उसके मुख पर स्वास्थ्य और सच्चरित्रता की आभा हो, मन में लोक सेवा और अन्याय निवारण की भावना हो, उसके मस्तिष्क में सदसत् का विवेक हो, उसके हृदय में ईश्वर आराधना का स्पन्दन हो।

आज की शिक्षा की यह कैसी विडम्बना है कि अशिक्षित लोगों में भले ही आचार-विचार के संस्कार प्रस्फुटित हो किन्तु उपाधि प्राप्त लोगों का नैतिक मूल्यों में विश्वास उठता चला जा रहा है।

शिक्षा के प्राचीन आचार्यों ने जहां पर विद्या अर्थात् ब्रह्म विद्या पर जोर दिया वहां अपरा विद्या अर्थात् सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान और शिल्प को भी आवश्यक माना है। परा एवं अपरा विद्या का समन्वय ही गुरुकुलीय शिक्षा का आदर्श था। सचमुच वह शिक्षा जो मानव को केवल भूत (पदार्थ) विद्याओं का बोध कराती है अपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि ब्रह्मचर्य काल में विद्यार्थी मानवीय सत्ता के अन्तिम सत्य को समझ सके और साथ ही लौकिक जीवन में

उपार्जन के योग्य गुण प्राप्त कर सके। शिक्षा की इन दोनों धाराओं के मिलाप की आज की शिक्षण संस्थाओं पर गम्भीर जिम्मेदारी है।

शिक्षा में ब्रह्मचर्य का स्थान—

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड का पांचवा सूक्त शिक्षा मनीषियों को निश्चय ही दिशा बोध प्रदान करत है। इस ब्रह्मचर्य सूक्त के तृतीय मन्त्र में कहा गया है "आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं-कणुते गर्भमन्त: (अथर्व ११/५/३)" जब आचार्य ब्रह्मचारी को शिष्य मान-कर अपने पास रखता है तब उसको अपने गर्भ में धारण कर लेता है। यहां गर्भ में धारण करने का तात्पर्य केवल अपने परिवार अथवा कुल में सम्मिलित करना नहीं परन्तु उस विद्यार्थी को अपने गर्भ अथवा हृदय में रखना है। गर्भ में अथवा अपने हृदय में रखने का भाव यह है कि उससे छिपाकर कुछ भी नहीं रखा जा रहा। तथा माता की तरह उसकी सभी समस्याओं के निराकरण हेतु अहर्निश उद्यत रहना है। यही गुरु शिष्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। आचार्य अपने शिष्य से कोई बात छिपाकर न रखे, जो विद्या स्वयं प्राप्त की है उसे पूर्ण रीति से शिष्य को सिखलाये और उसकी तरुणाई की सभी समस्याओं का निदान करे। आचार्य को सच्चा सन्तोष तभी होता है जब वह शिष्य को अपनी कृति के रूप में अपना जैसा (और अपने से अच्छा) बना कर खड़ा करता है। आचार्य के परिश्रम की सार्थकता इसी रचनाक्रम में है।

इसी मन्त्र के दूसरे भाग में कथन है कि "तं रात्रिस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति।" आचार्य अपने पेट में उस ब्रह्मचारी को तीन रात्रि का समय व्यतीत होने तक धारण करता है। रात्रि शब्द अन्धकार के भाव को प्रकट करता है। जिसके अनुसार यहां शिष्य आचार्य के समीप तीन प्रकार के अज्ञान दूर होने तक रहता है। प्रथम अज्ञान

दूर होने तक रहता है । प्रथम अज्ञान है अपने आपको न जानना, अपने जीवन के लक्ष्य को नहीं समझना, द्वितीय प्रकार का अज्ञान है सृष्टि के पदार्थों के प्रति अनभिज्ञता अर्थात् विज्ञान, नक्षत्र, अभियान्त्रिकि आदि विषयों का ज्ञान नहीं होना, तृतीय प्रकार का अज्ञान आत्मा अनात्मा के सम्बन्ध में जड़ चेतन के सम्बन्ध को न समझने के कारण । इन तीनों प्रकार के अज्ञानों को दूर करना ही शिक्षा का प्रयोजन है । आचार्य की कृपा से ज्ञान सूर्य उदय होने के कारण विद्यार्थी अज्ञान के अन्धकार का भेदन करके स्वच्छ एवं पवित्र प्रकाश में आता है ।

शिक्षा में तप का स्थान—

ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है 'नऋते श्रातंस्य सख्याय देवाः ।' (ऋ० ४.३३.११) श्रम किये बिना देव सहायता नहीं करते। विद्यार्थी का शिक्षण तप से ही प्रारम्भ होता है तथा उसी से वह विद्यार्जन के मार्ग में समर्थ होता है । अथर्ववेद में इसी ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा गया है, 'ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।' ब्रह्मचारी अपनी समिधा, मेखला, परिश्रम और तप से सब लोगों को सहारा देता है । यहां समिधा से अभिप्राय ज्ञान प्राप्त करने से है जो मेखला अर्थात् कटिबद्धता या कठोर संकल्प के होने से तप द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । आज शिक्षा जगत के विद्वानों को वेद का यही आह्वान है । सभी शिक्षा हृदय की शुद्धता के लिये ही होनी चाहिये । केवल भोगों की समृद्धि अथवा केवल उदरपोषण ग्रन्थावलोकन होने से शिक्षा की सार्थकता नहीं है । परन्तु जब हृदय शुद्ध और निर्मल हो तभी जीवनोद्देश्य की पूर्ति होती है । वेद कहता है तप से ही देवताओं ने मृत्यु पर विजय पाई । हमारी शिक्षा प्रणाली में आने वाले कष्ट को सहन करना ही तप है तथा इसी तप से शिष्य

शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है।

गुरुशिष्य परम्परा—

अथर्ववेद में आचार्य को मृत्यु कहा है क्योंकि उसकी कृपा से शिष्य को दूसरा जन्म प्राप्त होता है और शिष्य द्विज बनता है। पहला जन्म माता-पिता से मिलता है। पहले जन्म से प्राप्त शरीर का नाश आचार्य द्वारा शिष्य को ग्रहण करते ही हो जाता है। आचार्य के गर्भ में रहने के पश्चात् जब वह गुरुकुल से बाह् स्नातक बनकर आता है तब उसका दूसरा जन्म होता है। 'आचार्यो मृत्यु' (अथर्व ११.५.१५) आचार्य वरुण है अर्थात् वह शिष्य को पाप के पक्ष से हटा-कर पुण्य मार्ग में प्रवृत्त करता है। आचार्य का अर्थ ही है जो (आचारं ग्राहयति) सदाचार की शिक्षा देता है।

भारतीय संस्कृति में आचार्य रूपी सूर्य के विद्या तेज से शिष्य रूपी चन्द्रमा प्रकाशित होता है और वह सूर्य चन्द्र विधाध्ययन की समाप्ति तक एकत्र ही रहते हैं। 'गर्भमन्तं कृणुते केवलमाचार्यो' गुरु शिष्य के सहवास से ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ज्ञान का प्रवाह प्रचलित होता है। (अथर्व० ११.५.१५) अथर्ववेद के एक मन्त्र में गुरु दक्षिणा का भाव 'प्रजापती' शब्द से अभिप्रेत है अर्थात् गुरु अपने स्वार्थ का साधन करने के लिये दक्षिणा नहीं मांगता वरन् वह शिष्य से लोकसेवा का व्रत चाहता है। शिक्षा का यह पुनीत आदर्श हमें ऋषि दयानन्द एवं विरजानन्द की गुरुशिष्य परम्परा में देखने को मिलता है जिसमें विरजानन्द गुरु दक्षिणा के रूप में ऋषि दयानन्द से जन मानस में वेदों के प्रचार करने का व्रत लेते हैं। शिक्षा के इस वैदिक स्वरूप में आचार्य इस सार्वजनिक हित का निःस्वार्थ भाव देख-ने योग्य है।

शिक्षा का स्वरूप और ऋषि दयानन्द :

ऋषि दयानन्द के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास किया जाना है । वे शिक्षा व्यवस्था को राज्य का कर्तव्य मानते हैं । "राजा को योग्य है कि वे सब कन्या और लड़को को ब्रह्मचर्य में रखकर विद्वान् कराएं।" अनिवार्य शिक्षा के मंतव्य को ऋषि दयानन्द ने बहुत पहले ही प्रस्तुत कर दिया था । सत्यार्थप्रकाश के तृतीय सम्मुलास में उन्होंने लिखा है, "राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का या लड़की किसी के घर में न रह पाय, किन्तु आचार्य कुल में रहे । आज के शिक्षा मनीषियों के सामने भी ऋषि दयानन्द की आचार्य-शिष्य-आचार संहिता दिशा बोध प्रदान करती है । उन्होंने बतलाया है कि राजा-रंक, गरीब-अमीर सभी के बालकों के साथ समान व्यवहार होना चाहिये । सब को तुल्य वस्त्र, खान-पान आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र की संतान हो, सबको तपस्वी होना चाहिये ।"

ऋषि दयानन्द की शिक्षा पद्धति में केवल आध्यत्मिकता का लक्ष्य ही नहीं है वरन् लौकिक विद्याओं में निष्णात प्रवीणता प्राप्त किये जाने का निर्देश भी है । तृतीय समुल्लास में ऋषि लिखते हैं "विज्ञान कला कौशल नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या की यथावत् सीखें ।"

ऋषि दयानन्द के शिक्षा दर्शन में चारों वेदों का अध्ययन, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, कलाकौशल, शिल्प–विद्या, अभियांत्रिक ज्ञान, गणित–शास्त्र, ज्योतिष भूगर्भ शास्त्र आदि सभी विषयों की शिक्षा का कार्यक्रम है । चरित्र निर्माण के साथ जीविका उपार्जन की

विद्याओं एवं कलाओं की संस्तुति का ऋषि का विचार मंथन शिक्षा जगत् में आज भी प्रेरणा दीप के रूप में हम सबके सम्मुख उपस्थित हैं।

शिक्षा का माध्यम :

निस्संदेह प्रत्येक बच्चे का यह अधिकार है कि उसकी शिक्षा मातृ भाषा द्वारा ही हो। उसी से बच्चा सहज सुशिक्षित हो सकता है। शिशु मस्तिष्क पर यह कडा आघात है कि उसे मातृ भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा द्वारा ज्ञानार्जन कराया जावे। शिक्षा में रस तभी आ सकता है जब शिक्षा का माध्यम शिशु की बोलचाल की भाषा हो। हां, उच्च शिक्षा के लिये अन्य विकसित भाषाओं का अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष में राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी को यह गौरव प्राप्त है। यह सर्व विदित है कि गुरुकुल कांगड़ी आज ८२ वर्ष से यह सफल प्रयोग कर रहा है। आज विज्ञान की शिक्षा के माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं को अपनाने में अनेक कठिनाईयों की आशंका की जाती है जब कि गुरुकुल कांगड़ी ने आज से ८० वर्ष पूर्व ही विज्ञान की शिक्षा देने हेतु उच्च कोटि के पाठ्य ग्रन्थों का निर्माण कर लिया था। भौतिकी और रसायन शास्त्र पर गुरुकुल के तत्कालीन मुख्याध्यापक श्री गोवर्धन शास्त्री की लिखी पुस्तकों का आज भी आदर से नाम लिया जाता है। इसी प्रकार हिन्दी कैमिस्ट्री प्रो० महेशपाल सिंह के द्वारा लिखी गई। गुणात्मक विश्लेषण पर प्रो० रामशरणदास सक्सेना द्वारा लिखी पुस्तक आज भी हिन्दी भाषा में विज्ञान की जानकारी देने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक, आचार्य विश्वनाथ जी, प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, आचार्य प्रियव्रत जी, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा प्रो० हरिदत्त वेदालंकार आदि विद्वानों ने वेद, इतिहास, राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान आदि अनेको

विषयों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हिन्दी में की है। यदि यह काय समुचित गति से नहीं हो पाया तो इसमें त्रुटि केवल संकल्प की रही है।

शिक्षा सुधार में बाधायें :

राष्ट्र की उच्च शिक्षा प्रणाली के सुधार में मुख्य बाधा यह है कि आज भी हमारे मन में कोई स्पष्ट चित्र नहीं है कि शिक्षा का लक्ष्य क्या है ? आज शिक्षा केवल रोजगार प्राप्त करने के लिए ली जाती है। चूंकि प्रायः सभी नौकरियों के लिए बी० ए० की शर्त लाजमी है इसलिए शिक्षा का लक्ष्य बी० ए० की उपाधि प्राप्त करना रह जाता है। भले ही उपाधि कैसे प्राप्त की जाए। दयानन्द और गांधी ने साधना की शुद्धता पर जितना जोर दिया था उतने ही आज हम उनके दिखलाये पद से भ्रष्ट हो चुके हैं। आज शिक्षा न रहकर कुशिक्षा हो चुकी है। सबसे पहले हमें नौकरियों के लिए बी० ए० की शर्त हटानी होगी ताकि विश्वविद्यालयों में केवल वही विद्यार्थी जायें जिन्हें बौद्धिक उन्नति की इच्छा है। जिन्हे क्षत्रिय धर्म, वैश्य धर्म अथवा अन्य काम करने हैं उन्हें क्यों न तत्सम्बन्धी शालाओं में आधारभूत शिक्षा के बाद प्रवेश दिया जाए ? हांलाकि हम लगभग २० वर्ष से माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में कलाकौशल के समावेश करने की बात करते आये हैं, हमने इस दिशा में ठोस कदम नहीं उठाये। यदि हम प्रत्येक विद्यार्थी को किसी एक कला में दक्ष बना देते हैं तो निस्सदेह उसका भविष्य स्थर हो सकता है। वयस्क होते ही वह बेंक से कर्जा आदि लेकर अपना धन्धा शुरु कर सकता है। अन्यथा वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर भेड़–चाल चलता हुआ महाविद्यालय के कराल गाल में जा फंसता है।

□□

ब्रह्म मीमांसा

एकेश्वरवाद तथा बहुदेववाद-

वेदों में भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों से देवों का स्मरण किया गया है। यह उपासना उन्हें एक सम्पूर्ण देव मानकर चलती है, कहीं अग्नि को पूर्णदेव मानकर स्तुति की जा रही है तो कहीं इन्द्र को ही सर्वोत्तम मानकर उससे अपनी रक्षा आदि की कामना की जा रही है। कहीं रुद्र का ईश्वरत्व प्रकट हो रहा है तो कहीं वरूण और मित्र का। कहीं सूर्य के गीत गाये जा रहें हैं तो कहीं पूषन् के। कहीं सविता को अखिल विश्व का स्वामी बताया जा रहा है तो कहीं भग को और कहीं विष्णु को इन समस्त तीनों लोकों का आराधक मानकर उपासना की गई है। इस प्रकार वेदों में बहुत से देवों की स्पष्ट सत्ता प्रस्थापित की हुई मिलती है। ये देवता द्युलोक के आवासी भी हैं और अन्तरिक्ष के भी। ये प्राकृतिक शक्तियां भी कही जाती हैं और भाव-संवलित आकारधारी भी। इन सबको अपने-अपने सन्दर्भों में विशिष्ट–२ व्यक्तियों से युक्त माना गया है। अमरत्व और अपरिवर्तनशीलता इनके गुण हैं। यद्यपि उन्हें विपुल शक्ति सम्पन्न माना गया है। संसार का कल्याण - अकल्याण इन्हीं की कृपा पर आधारित माना गया है। इसलिए मानवमात्र से उनको प्रसन्न करके जगत्-कल्याण हेतु कामना करने का उपदेश दिया गया है। प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों का अधिनायक इन्हीं देवताओं को माना गया है। उनका पृथक्-पृथक् अपना निर्धारित क्षेत्र बतलाया गया है।

यही बहुदेववाद का विचार शनैः शनैः प्रगति की ओर अग्रसर होता है और सभी शक्तियों, सभी देवताओं के उपर एक अमोघ

शक्ति का उद्घोष वेदों में होता है 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—जो कहकर उसको ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मस्पति, वरूण, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषन्, सविता और भग देवता बताया जाता है।[1] पूर्वोक्त समग्र बहुदेववाद की प्रतिच्छाया एकेश्वरवाद के पूर्णलोक में सिमट जाती है। सभी शक्तियां, सभी व्यक्तित्व या तो उसी के द्वारा आयोजित बताये जाते हैं अथवा उसी को इन भिन्न-२ में देखा जाता है। कहीं उसे विराट् की संज्ञा दी जाती है। कहीं उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सब नामधारी देवताओं का उसी को समाधार कहा गया है।[2] इतना ही नहीं, उसे समस्त जगद्रूप भी कहा गया है।[3] महर्षि यास्क भी कहते हैं कि— महाभाग्यवाद देवता या एक आत्मा बहुधा स्तूयते। (निरूक्त देवतकाण्ड ७.१.)

---

१ (क) त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्म रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥
(ऋग्वेद २.१.३)

(ख) त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः ॥
(ऋग्वेद २.१.४.)

(ग) त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्तेऽविधत् ॥
(ऋग्वेद २.१.७)

(घ) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

२ यो देवानां नामधा एक एव।
ऋग्वेद–१०.८२.३., यजु० १७.२७, अथर्व० २.१.३

३ यजु० ३२.१.

आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द दोनों ही दार्शनिक एकेश्वरवाद के समर्थक हैं। दोनों एक परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले हैं। किन्तु दयानन्द का एकेश्वरवाद रामानुज के एकेश्वरवाद से उन अर्थों में भिन्नता रखता है, जिन अर्थों में रामानुज सर्वेश्वरवाद की ओर अग्रसर होते हैं।

आचार्य शंकर ने सम्पूर्ण अर्थों में सर्वेश्वरवाद को स्वीकार किया है। उन्होंने परमात्मा का एकात्मक प्रतिपादित करने वाली त्रुटियों के आधार पर जिनमें–सर्व बल्विदं ब्रह्म "न नानास्ति किंचन" एकं ब्रह्म सत्य इत्यादि है। शंकर ने परमात्मा को परम सत्य ही नहीं प्रत्युत एकमात्र तत्व स्वीकार किया है। शंकराचार्य के अनुसार यह समस्त जगत् मिथ्या है। मिथ्याज्ञान किंवा अविद्या का विकार है। जीव भी अन्त:करणा वा छिन्न परमात्मा ही है। अत: वह भी उस परमात्मा से भिन्न नहीं है। इसलिये जगत् के मिथ्या होने से, जीव के प्रमुख **ब्रह्म** होने से एकमात्र वह ब्रह्म ही परम सत्य है। अन्य किसी भी तत्व की सत्ता सत्य नहीं है। इस प्रकार आचार्य का एकत्ववाद अपने सम्पूर्ण अर्थों में सर्वेश्वर है। यह जगत् और यह जीव अन्ततोगत्वा उसी के रुपान्तरण हैं।

आचार्य रामानुज उक्त सर्वेश्वरवाद की ओर तो बढ़ने को उत्सुक से प्रतीत होते हैं किन्तु अन्येतर तत्वों का यथार्थ उनके विचारों के पैरों को बांधता हुआ सा प्रतीत होता है। इस लिये वे उस रूप

---

१ (क) स०प्र० पृष्ठ ११५।

(ख) वासुदेवा सर्वम्–गीता–रा०भा० ७.१४।

(ग) सर्ववेदान्तेंव सर्वे शब्दैः परमकारणतथा जयमेव गीतये इत्यर्थं (वेदार्थ संग्रह–पृष्ठ १८०॥

में सर्वेश्वरवादी नहीं बन पाते, जिनमें शंकराचार्य हैं। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ईश्वराश्रित ही हैं। इसलिये वे जीव और जगत् अपने-अपने स्वभावों के कारण ईश्वर से भिन्न होकर भी ईश्वर से अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक शरीर अपने अस्तित्व के लिये अपनी आत्मा पर निर्भर करता है, किन्तु वह आत्मा से भिन्न होना है, उसी प्रकार जीव और जगत् परमात्मा का सम्बन्ध है। रामानुज इसी अभिन्नता के आधार पर परमात्मा को उपादान कारण एवं निमित्त कारण स्वीकार करते हैं। इस अर्थ में वे अद्वैतवाद् अभिन्निनिमितो-पादनेश्वरवादी हैं। इसलिये वे भी सर्वेश्वरवादी ही हैं। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वे रामानुज—अभिन्नता जीव जगत् को परमात्मा ही नहीं मानते, प्रत्युत उनकी अपनी-अपनी सत्ता को भी सत्य मानते हैं। इसलिये वे त्रितत्व समर्थक होकर भी सर्वेश्वर वादी हैं। उनका सर्वेश्वरवाद (विशिष्टाद्वैत) उन्हें उपान्तरित सर्वेश्वरवादी कहने के लिये बाध्य करता है, यही उनका अपना वैशिष्ट्य है। जिनके कारण—अर्थात् जीव और जगत् विशिष्ट-परमात्मा को स्वीकार करने से विशिष्टाद्वैतवादी है।

किन्तु दयानन्द इस प्रकार का उपान्तरित सर्वेश्वरवाद स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार परमात्मा की सत्ता शाश्वत है और सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु जीव और जगत् की सत्ता भी अनादि है, तस्मात् वे दोनों भी यथार्थ हैं। यद्यपि ईश्वर के साथ उनका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, किन्तु किसी भी प्रकार वे अपनी यथार्थता के लिए ईश्वर के आश्रित नहीं हैं। दयानन्द, आचार्य रामानुज की भांति त्रितत्व का मूल किसी एक (परमात्मा) को ही नहीं मानते। उनके त्रितत्व अपने-अपने में सर्वथा सत्य हैं और यथार्थ हैं। सृष्टि के मूलभूत हेतु जगत् की पृथक् सत्ता की स्वीकृति करने के कारण वे परमात्मा को न्याय दर्शन की भांति सृष्टि के प्रति मात्र निमित्त कारण मानते हैं।

इस अर्थ में वे निमित्तेश्वरवादी हैं। इसलिये वे त्रितत्व के यथार्थ को अङ्गीकार करने के कारण सर्वेश्वरवादी नहीं कहे जा सकते हैं। तस्मात् एकेश्वरवादी तो वे अवश्य हैं किन्तु सर्वेश्वरवादी नहीं।

तत्वमीमांसा की दृष्टि से कहा जाता है कि आचार्य शंकर अद्वैतवादी किंवा सर्वेश्वरवादी अर्थात् एकतत्वमात्रवादी हैं, रामानुज त्रितत्ववादी हैं, और उस त्रितत्व का एक ही को मूल मानने के कारण विशिष्ट द्वैतवादी किंवा उपान्ततरित सर्वेश्वरवादी हैं। किन्तु दयानन्द पूर्णतः त्रितत्ववादी है और उन त्रितत्वों के सम्पूर्ण यथार्थ्य को स्वीकार करने के कारण एकेश्वरवादी हैं। दर्शन भी भाषा में उन्हें त्रैतवादी न कहकर द्वैतवादी कहना ही उपयुक्त होगा। अति संक्षिप्त विशेषण इस प्रकार हैं–

ईश्वर सत् है,[1] चित् है[2] और आनन्द है[3]–अर्थात् सच्चिदानन्द हैं। वह निराकार[4], सर्वशक्तिमान्[5], न्यायकारी[6], और दयालु है।[7]

---

१ ऋग्वेद १.१६४.४६, अथर्व० १०.८.६, यजु० ३२.८॥
२ अथर्व० १८.४.१४, ऋ० ४.३१.२, यजु० ३९.५॥
३ अथर्व० २.१.५, यजु० ११.१०, ऋ०१०.१२१.१ यहां पर क पद आनन्द स्वरूप वाचक है।
४ यजु० ४०.८, ३१.३, ३१.४, ३२.१, ऋ० ८.६८.११, १.२६.१३, १९.७.६॥
५ ऋ० ८.१४.२१, ८.३२.१५, १०.५५.६, ६.२५.५,अथर्व० १०.८.२३॥
६ ऋ० ८.४३.२४, अथर्व० १.२०.४, ४.१,६६॥
७ ऋ० ५.६४.३, २.४१.११, ७.८७.७॥

अजन्मा, [1] निर्विकार,[2] अनादि,[3] अनुपम,[4] सर्वाधार,[5] और सर्वेश्वर[6] होने के साथ-साथ वह सर्वव्यापक[7] है वह सर्वान्तर्यामी[8] और सर्वज्ञ[9] भी हैं। अजर,[10] अमर[11], अभय[12], नित्य[13], पवित्र[14], स्वभाव वाला वही जगत्कर्त्ता[15] है। वह उपास्य देव है।

---

१ ऋ० १.६७.३, ७.३५.१३, यजु० ३१.१६, ४०.८ ॥
२ ऋ० १०.१११.३, ८.४७.६, अथर्व० १०.८.४४ ॥
३ सामपूर्व० ५.२.१, उत्तरार्चिक १.१.२२, यजु० ३२.२ ॥
४ ऋ० ७.३२.२३, सामपूर्वार्चिक ३.१.१०, ऋ० ८.५१.३, १०.१२१.१० ॥
५ यजु० ३१.११, १३.४, ऋ० १.६.१, अथर्व० १०.८.६, १०.७.१३०, १०.८.११ ॥
६ ऋ० ८.६४.३, १०.८६.१०, १.३२.१५, १०.१२१.३, अथर्व० १३.३.३ ॥
७ ऋ० १.६७.६, १०.२६.१४, यजु० ३२.८, ४०.५, ३२.११, अथर्व० ७.८७.१ ॥
८ ऋ० ३.६२.६, १.२५.१०-११, १.२५.७, अथर्व० ५.११.४, ४.१६.२ व ५-६ ॥
९ ऋ० ८.१०१.१४ ॥
१० अथर्व १० अथर्व० १०.८.४४, ऋ० ६.४९.१०, ६.५.७ ।, ६.१९.२ ॥
११ अथर्व० ५.१४.२, ६.४.२, १०.४८.५, ४.१.१ ॥
१२ ऋ० ३.३०.५, २.२७,१४, अथर्व० १.२१.१ ॥
१३ अथर्व० १०.८.२२-२३, ऋ० १०.१५.६ ॥
१४ ऋ० ८.९५.७-८, ९.३५.६ ॥
१५ ऋ० १०.११०.९, १०.१२५.८, १०.१९०.३, यजु० १७.१८-१९, सामपू० ६.४.३, अथर्व० १६.१.६ ॥
१६ ऋ० १.७५.३, २.१.४, ५.८.४, १.१.१, १०.१२१.१ ॥

ऋग्वेद में स्पष्ट वर्णन आया है कि जिस परमात्मा ने पृथिवी आदि लोक लाकान्तरों को परिमाणपूर्वक बनाया है इस पृथिवी आदि से ऊपर नक्षत्र चन्द्र तारकादि के सहस्थान द्युलोक का भी स्तम्भन वही कर रहा है। वह परमात्मा अपने सामर्थ्य से नियम में रहता हुआ स्तवन के योग्य है। महान् सामर्थ्यों को प्राप्त होकर मैं भी सर्वत्र स्तवन करूँ। इस उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल प्रकृति से उस परमेश्वर ने पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों का निर्माण किया और तीसरी वस्तु जीवात्मा है जो उस परमात्मा को प्रार्थना उपासना इत्यादि करता है। यहां भी द्वैत की स्पष्ट सिद्धि हो जाती है।

महान् सुख का भन्डार परमेश्वर चराचर जगत् का उत्पादक और व्यवस्था में रखसे वाला है। वही परमात्मा धारक तथा लय करने वाला है। वह सबको उत्पन्न करके सबको शुभ कर्मों की प्रेरणाप्रदान करता है[2] इस मंत्र से स्पष्ट रूप से त्रैतवाद सिद्ध होता है। जिस परमेश्वर न सभी पदार्थो का निर्माण किया है जो उस परमेश्वर को नहीं जानता। और जो योगाभ्यास आदि द्वारा उसके जानने का प्रयास करता है उसका ही ज्ञान यथार्थ है। जो उस ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता उसका वेद भी क्या करेगा। जो मनुष्य उस वेद ज्ञान द्वारा अपने अन्तिम उदेश्य प्रभू की प्राप्तकर लेंगे वही उस परमात्मा में मगन हो सकते हैं। इस परमानन्द को प्राप्त करने के लिए परमात्मा का ज्ञान आवश्यक है।

---

१ वृहत्सुम्न : प्रसवीता निवेशनों जगतः स्थातुरूभायष्य योवसी।
सना देवा सविता शर्श यच्छूत्वरमे क्षयाय त्रिवरूथ मर्घसः॥

२ विष्नोनर्क वीयाणि प्रवोच यः पर्थिवानि विममेरंजासि।
यो अस्कर्मयादुत्तर संघस्थं विचक्रमाणस्त्रैवोरूगायः ॥ऋ०१.१.५४

इस मंत्र में उपादेय परमेश्वर है तथा हेय सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि रूप जगत् है। जो कि अपने मूल भूत अनादि प्रकृति का विकार रूप है। तीसरा जीव है जो परमेश्वर के प्रदत्त वेद ज्ञान द्वारा इस हेय जगत् का साधन रूप में त्यागपूर्वक सेवन कर उपादेय प्रभु को पाने का प्रयास करता है इस प्रकार त्रैत की सिद्धि हो जाती है।

दो सहवासी सखा जीवात्मा तथा परमात्मा अपने समान अनादि प्रकृति रूपी वृक्ष परबैठे हुए हैं। उनमें से एक कुछ वृक्ष के स्वादु फलो का उपभोग करता है दूसरा जो कि सच्चिदानन्द स्वरूप है उस वृक्ष के फलों का उपभोग नहीं करता, अपितु अपने दूसरे सखा को उपभोग करते हुए देखता है और उसका साक्षी है। जो सखा उस उस वृक्ष के फलों को खाता है वह दुख सुख आदि कर्मफलों को प्राप्त होता है। परन्तु जो दूसरा सखा जो केवल साक्षी मात्र है अर्थात् फलों का उपभोग नहीं करता वह कभी भी किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं आता।2

इस मन्त्र में दो सखा और एक वृक्ष बतलाकर स्पष्ट रूप से त्रैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। अलंकार रूप से यह समझाया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा दो मित्र है। प्रकृति एक वृक्ष के समान है जीवात्मा संसार में आ कर नानाविध कर्मों को करता है और नाना प्रकार के दुःख सुख रूपी फलों का उप-

---

१ यस्मिन् वृक्षमदवदूः पर्णानिविशन्त सुवते चाधिविश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्ने तन्नेन्नसद्य पितरं न वेद॥
ऋग्वेद १.६४.२२

२ न तं विदाथ य इमा जजानान्य द्युष्माकमन्तरं बभूव।
ऋग्वेद १०.८२.७

भोग करता है। परमात्मा इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर निवास करता हुआ भी किसी प्रकार का कर्म नहीं करता। वह केवल द्रष्टामात्र है। जिस प्रकृति के विकार भूत इस दृष्टि रूपी वृक्ष पर अनेक जीव बैठे हुए, वहीं पर ही अपनी सन्तानोत्पत्ति करते हुए उसी वृक्ष के फलों का उपभोग करते हुए उन्हीं की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं अर्थात् विविध प्रकार के भोगों को भोगते हुए यही कहते हैं कि अमुक पदार्थ बड़ा स्वादिष्ट है अमुक उससे भी अधिक स्वादिष्ट है आदि आदि।

इस प्रकार जो भोगों की प्रशंसा करें धीरे-धीरे उनमें मग्न हो जाते हैं तो वे काम, क्रोध, लोभ आदि की दुष्प्रवृत्तियों में फंस जाया करते हैं। जब तक उस परमानन्द परमपिता परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते तब तक साँसारिक दुःखों में फंसे रहते हैं। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए निश्चल बुद्धि से उसकी आराधना करनी होगी।

वहाँ भी स्पष्ट रूप से त्रैत की सिद्धि हो जाती है। जिस परमेश्वर ने इस चित्र विचित्र नाना–विधि सृष्टि का सृजन किया है। उस करूणा निधि स्रष्टा को तुम नहीं जानते। वह तुम्हारे अन्दर व्याप्त हो रहा है। तब भी उस परमात्मा को क्यों नहीं जानते ?[1] यहाँ भी त्रैतवाद की सिद्धि स्पष्ट है। एक संसार दूसरा परमेश्वर तीसरा जीवात्मा जो कि संसार के भोगों में फंस कर उस परमात्मा को नहीं जानता।

---

१ न त्वा वां अन्योदिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामटे॥
ऋग्वेद ७.३२.२३

अनन्त धनों के भण्डार प्रभु तुम जैसा अन्य कोई द्युलोक में और न ही कोई पृथ्वी लोक में उत्पन्न हुआ और न ही होगा। हे परमेश्वर्यों के केन्द्र इन्द्र हम अश्वादि यातायात के साधनों को भली प्रकार प्राप्त करें।1

जिस महान् समर्थ वाले परमात्मा ने तीन तेजों से परिपूर्ण तथा प्रकाशमान सर्वहित सम्पादक सूर्यादि पदार्थों को रचा है। जिसने इस विशाल भूमण्डल को दृढ़ किया है और इसके द्वारा होने वाले सुख को भी धारण किया है, उसी की ही अनुकम्पा से हमें विविध सुखों का अनुभव होता है। उसने दुःख रहित मोक्ष के आनन्द को भी धारण किया हुआ है। यदि हमें सर्वोत्कृष्ट आनन्द की कहीं प्राप्ति हो सकती है, तो उसी विधाता परमेश्वर से ही प्राप्त हो सकती है।2

इस मन्त्र में जिज्ञासु प्रश्न करते हैं कि हम किस देव की श्रद्धा तथा नम्रता पूर्वक उपासना करें? उत्तर में स्पष्ट कहा गया है उस परमात्मा कि जिसने की द्यौ पृथ्वी आदि को धारण किया हुआ है उपासना करें। यहां त्रैतवाद स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है।

वेदों में भी त्रैतवाद की सिद्धि है। इस विषय में हमने कुछ मन्त्र प्रस्तुत किये हैं। हमारे निबन्ध का कलेवर अधिक न बढ़े इसलिए आगे मन्त्र न दिखा कर मात्र वेदों में आये कुछ शब्दों के अर्थ लिख रहे हैं। जिनसे त्रैत की सिद्धि होती है।

१- मामा हि सोज्जनिता यः पृथिव्या यावा दिव सत्यधर्मा व्यानट्।
२- प्रजायाः पालकः पति स्वामी वा।
प्रजापतिश्चरति गर्भे............मनु० ३१।१६॥

यजुर्वेद में परमेश्वर के लिए प्रजापति शब्द आया है। जिसका अभिप्राय है कि—प्रजा का स्वामी,1 उस प्रजा से अनादि जीवात्मा तथा जिससे वह प्रजा का पालन पोषण करता है । उस कार्य रूप जगत् से अनादि प्रकृति रूप तत्त्व की अनुमान से सिद्धि को होकर तंत्र की प्रतिपत्ति हो जाती है।

ईश्वर के लिए हिरण्यगर्भ शब्द भी आया है। जिसका अभिप्राय है कि-सूर्य, विद्युत् आदि पदार्थ जिसके गर्भ में है।1 इन सब पदार्थों से जिनका कि गर्भ में रखे हुए है अनादि उपादान प्रकृति रूप कारण का अनुमान से ज्ञान होता है। अब चूंकि यह सूर्य चन्द्र आदि का कार्य है। अत: ये सब पदार्थ उपभोग के लिए बनायें गये हैं । वह जीव समुदाय। इसप्रकार हिरण्यगर्भ शब्द से भी अनादि तत्त्वमय की निष्पत्ति हो जाती है ।

वेदों में देव शब्द भीअ ाता है जिसका अर्थ होता है कि जो परमात्मा आनन्द स्वरूप होकर आप ही क्रीडा करता है अथवा बिना किसी सहायता के अपने सहज स्वभाव से ही संसार की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय करता रहता है। वह सब की क्रीडाओं का आधार है जो सबको जीतने हारा परमेश्वर देव है। १ जो चराचर जगत का प्रकाशक है अर्थात् जिससे सारा चराचर जगत प्रकाशिन हो रहा है।२ सज्जनों तथा धर्मात्माओं द्वारा स्तुति किया जाता है। अथवा उपासना किया जाता है वह देव है।३ इसप्रकार हमने देव शब्द के अर्थ का विवेचन किया। इन सब निरूक्तियों अथवा निर्वचनों से ज्ञात होता है कि

१- सूर्य विद्युत हिरण्यादि पदार्था: गर्भे यस्य स: हिरण्यगर्भ: परमेश्वर
हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे............ऋग्वेद १०।१२१।७।।
हिरण्यगर्भ इत्येष............यजु० ३२।३।।

वह परमात्मा देव समस्त ब्रह्माण्ड़ का बनाने वाला है और वह चर अचर जगत् के सब व्यवहारों को सिद्ध करता है। इससे वह देव है। तात्पर्य यह है कि देव के इन सभी अर्थों से त्रैत की निष्पत्ति हो रही है। क्योंकि वह देव उपासकों को स्तुति तथा उपासना आदि के द्वारा प्राप्त होता है तो उपासक जीवात्माओं की सिद्धि भी अपने आप ही जाती है।

विराट:– विराट शब्द से यद्यपि परमेश्वर का भी ग्रहण होता है परन्तु यजुर्वेद ३१।५ के आधार पर जगत् का ही ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय: होता है कि जो विशेष प्रकार यह महान् जगत् प्रकाशित किया जाता है वही विराट कहाता है। ४ अब प्रश्न यह होता है कि यह विराट जगत् किस निमित्त कारण से प्रकाशित उत्पन्न किया जाता है, अपितु कौन इसकी उत्पत्ति प्रकाशन करने बाला है, क्योंकि बिना किसी निमित्त कारण के तो किसी की उत्पत्ति बन नहीं सकती जैसे कि घड़ा आदि। दूसरा प्रश्न यह भी होता है कि यह जगत् किस उपादान कारण से उत्पन्न किया जाता है अर्थात् इसका उपादान कारण क्या है?

जिसमें सम्पूर्ण संसार ऐसे आश्रय लिये हुए है कि जैसे पक्षी अपने घोंसलें में रहता है। उसी सर्वाधार परमेश्वर से यह जगत्

१- यो दी व्यति क्रीडति स देव:।
विजिगीषते य: स देव:।
एषो ह देव: प्रदिशो नु सर्वा............यजु० ३२।४

२- यश्चरोचरं जगद् द्योतयति स देव:।

३- य: स्तूयते स देव:

४- ततो विराडजायत विराडो हि पूरूष:......यजु ३१।५

उत्पत्ति काल में उत्पन्न होकर स्थूल रूप में आ जाता है और प्रलय काल में कारण रूप प्रकृति में लीन होकर उसी परम पुरुष प्रभु में समा जाता है। वही जगदीश्वर व्यापक परमात्मा पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली इन प्रजाओं के तानें बानें के साधन से ओत-प्रोत हो रहा है। उसी परम पुरुष को विद्वान् योगाभ्यासी जन योगाभ्यास द्वारा अपनी हृदय गुहा में देखकर साक्षात्कार कर परमानन्द में मग्न हो जाते हैं।[1]

यहाँ हृद गुहा में विहित परमेश्वर के एक नीडवत् आधार प्रभु से आदि निमित्त ब्रह्म, विविध विश्व से उसकी मूल प्रकृति और प्रजाओं से अनादि जीवात्मा समुदाय का ग्रहण कर अनादि तत्त्वत्रय का प्रतिपादन हो जाता है।

जो परमात्मा सत्यधर्मा है। वही परमेश्वर भू लोक का निर्माण करता है। यही नहीं बल्कि द्युलोक-प्रकाश लोक-चन्द्रमा आदि-आदि को उत्पन्न करके उन सब के अन्दर परिपूर्ण हो रहा है। वह प्राणप्रिय करुणा निदान इन से अनेक विध करुणामय समान रूप अन्य औषधियों आदि तृप्तिकार भोगी की व्यवस्था कर हमारे लिए प्रदान कर हमें अनुगृहीत करता है।[2]

यहाँ पर कहा गया है कि वह परमेश्वर सत्यधर्मा है। उस के लिये जनिता, सत्यधर्मा, व्यानट ये तीनों शब्द दर्शा रहें हैं कि जगत्

---

१ येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षं रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम
॥यजु०३२।६

२ वेनस्तत्पश्यन्तिहितं गुहा सव्यत्र विश्वं भवत्ये कनीडम्।
तस्मिन्निदं संचविचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥
यजु० ३२.८॥

की उत्पत्ति आदि का कोई निमित्त कारण है, वह सत्य सर्व व्यापक प्रभु है। पृथ्वी द्यो, चन्द्र आदि जो पद आयें हैं, वे अपने उपादान मूल प्रकृत्ति की ओर संकेत करते हैं। उपासक शब्द के लिए हविषा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो जीवात्मा के वाचक हैं। क्योंकि कारण के बिना कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। तीसरा प्रश्न यह है कि विराट जगत् की उत्पत्ति किस के लिए हुई। इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि परमात्मा इसका निमित्त कारण है उपादान कारण मूल प्रकृति है और जिसकी उत्पत्ति हुई वह जीवात्मा है।

वैश्वानरः— वैश्वानर परमेश्वर सकल प्राणियों को अपने शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार लोक लोकान्तरों की प्राप्ति कराता है।[1] यहां वैश्वानर से अनादि परमेश्वर जिन नरों प्राणियों को वह भोगों की अथवा भिन्न-भिन्न योनियों को शरीरों की कर्मानुसार प्राप्ति करता है। उनसे अनादि जीवों तथा जिन भोगों लोक लोकान्तरों को प्राप्ति कराता है, उनसे अनुमान द्वारा अनादि उपादान प्रकृति की सिद्धि हो-कर अनादि वैदिक त्रैतवाद की उपलब्धि हो जाती है।

वरुण :—वरुण वरणीय परमेश्वर धर्मात्मा एवं धनी जनो के द्वारा वरण किया जाता है। यहां पर एक वरणीय और एक वरण करने वाला इन दोनों से द्वैत और तीसरा जो मूल प्रकृति तत्त्व है जिसका जीवात्मा नानाविध भोग भोगता है, तीनों की सिद्धि हो जाती है।

विष्णु :— जो चराचर जगत् में व्यापत हुआ[2] इस महान् जगत

---

१ नासतो विद्यते भावः—गीता कारणभावात्कार्योभावत् वैशेषिक

२ यो विश्वान् अखिलान् नरान्नयति प्रापयति कर्मानुगुण भोगलोक स वैश्वानः परमेश्वरः।

की व्यवस्था कर रहा है वह विष्णु महान् परमेश्वर है।[1] यहां विष्णु से अनादि अविनाशी ब्रह्म और चराचर से जगत् और जीव इन तीनों की उपपत्ति हो जाती है।

विश्वकर्माः— विश्वकर्मा परमात्मा से सारा जगत् रचाया जाता है उसी विश्वकर्मा से यह उभयविध जगत् का निर्माण होता है।[2] इस प्रकार हमने वेद मन्त्रों और वेदों में आये कुछ शब्दों के द्वारा देखा कि जगत् में मूल रूप से कम से कम तीन तत्त्व मानने चाहियें।

मूल उपनिषदों में ब्रह्म का विवेचन—

१ ईशावास्योपनिषद्—वह परमात्मा कंपन नहीं करता है, परन्तु मन से भी वेगवान् है। ये इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकती हैं, परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व विद्यमान है। वह स्थिर है, परन्तु अन्य को पीछे छोड़ देता है। उसी के कारण जो वायु स्वयं हल्की है अपने से भारी बल को उठा लेती है।[3] कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं कि शुद्ध रूप से परमात्मा नहीं चलता अपितु शब्द रूप में चलता है। इस प्रकार परमात्मा के दोनों रूप बन सकते हैं परन्तु यह आशय उपनिषद्कार का प्रतीत नहीं होता है। अतः ब्रह्म में उभयरूप मानना ठीक नहीं है। आगे कहा है कि जब पुरुष इस सम्पूर्ण विश्व

---

१ विवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् इति विष्णु सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वरः। वृयते यः स वरुण परमेश्वरः इति। ओं शन्नोमित्र वरुणे—ऋ० १.६.१८।

२ विश्वंकरोति इति विश्वकर्मा, विश्वकर्मो विमना—ऋ० ८.३.१७। विष्णोः कर्माणिपश्यत— ऋ० २.७.१९।

को परमात्मा के आधार पर समझता है और इस ज्ञान के पाने पर वह पुरुष पूर्ण प्रकार से सुरक्षित हो जाता है फिर किसी की निन्दा स्तुति नहीं करता है। यहां पर इस वचन में ईश्वर ज्ञान का फल कथन किया गया है।1 इस उक्त मन्त्र का अर्थ अद्वैतवादी यह करते हैं कि जब पुरुष इस सारे संसार को अपने आप में देखता और सारे संसार के भूतों में अपने आपको देखता है तो वह निन्दा स्तुति नहीं करता है।2 इसके आगे उपनिषद् में परमात्मा का निर्बीज समाधि द्वारा जब योगी साक्षात्कार करता है तो उस अवस्था में योगी समदर्शी हो जाता है, वह शोक और मोह ने रहित हो जाता है। उसे अपने पराये का यश नहीं रहता अपनी प्राणीमात्र में एकता देखता है।3 यहां यदि एकत्व का अर्थ ब्रह्म और जीव का अभेद होता है तो मोह और शोक पद की आवश्यकता न होती, अपितु यह कहा जाता कि वह ब्रह्म हो जाता है। परन्तु जैसा कि योगदर्शन में व्याख्यान है कि योगी समाधि काल में ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है या अपने स्वरूप को देख लेता है। आत्मतत्त्व बोध हो जाता है, अवस्था कहकर भेद प्रतिपादित किया गया है। 4 जिस परमात्मा के साक्षा-

---

१ ईशोपनिषद्–५।

२ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ई० उ० ६ ॥

३ यहां प्रकरण में आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है, जबकि अद्वैतवादी यहां अपने अर्थ में ग्रहण करते हैं। जब पहले से परमात्मतत्त्व का वर्णन है तो आत्मा का अर्थ परमात्मा लेना उचित नहीं। आर्यमुनि ॥

४ ईशो० ७—"तत्र को मोह कः शोक एकतत्वमनु पश्यत"
यहां एक त्वम् का अर्थ है–एकता–समता–एक दृष्टि उस अवस्था में योगी जाति, सम्प्रदायों से उपर उठकर निष्पक्ष हो जाता है।

त्कार हो जाने पर योगी समदर्शी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है उस ईश्वर का स्वरूप क्या है ? इसका वर्णन करते हुए कहा है कि वह ईश्वर सब स्थानों पर गया हुआ है। दीप्त, शरीर रहित, नस-नाड़ियों रहित, घावों से रहित, सब प्रकार से पवित्र, पापरहित, क्रान्तदर्शी ज्ञानी, सब जगह व्याप्त, स्वयं सत्ता वाला है। वह जैसा चाहता है वैसा भलीप्रकार सृष्टि के पदार्थों को रचता है अर्थात् धारण करता है। वह निरन्तर व्यवधान रहित सभी कल्पों से चला आ रहा है। जैसी व्यवस्था चाहता है वैसा प्रबन्ध कर रहा है।[1] ईश्वर के उस स्वरूप को सभी आचार्यों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। कुच्छ आधुनिक प्रत्ययवादी विद्वान् अन्य अर्थ करते हैं। वे इस मन्त्र में ब्रह्मवित्त पर अर्थ करते हैं, जो समोचीन नहीं है क्योंकि मन्त्र के उत्तरार्द्ध में सृष्टि रचियता के रूप में ईश्वर को माना है। मुक्त आत्मा सृष्टि रचना कभी भी नहीं कर सकता है। यह सामर्थ्य तो केवल ईश्वर का ही है वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर यह मानते हैं कि मुक्त पुरुष सृष्टि रचना नहीं कर सकता है।[2] अतः उक्त मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का ही वर्णन है। इस मन्त्र में ईश्वर के स्वरूप को निधेयात्मक और निषेधात्मक[3] हेतु और सिद्ध किया है। वह ईश्वर शुक्र, शुद्ध पर्यगात, कवि, मनिषी, परिभू, स्वयंभू, शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः "इन विशेषणों से युक्त है, यह

---

१ तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्नानम् यो० १।३।।

२ पर्यगाच्छुक्रमकप्य............ईशो० ८ ।।

३ जगद् व्यापार वर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च वैदान्त० ४.४.१७- इस शंकरभाष्य – जगदुत्पत्यादि व्यापारं वर्जयित्वाअन्यदक्षिण-माद्यैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद् व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्ये श्वरस्य।

उसके विधेयात्मक गुण है।'' अकार्म, अव्रणं, अस्थाविरं, अपापविद्ध, इन विशेषणों से उसका निषेधात्मक रूपेण व्याख्या की है।

आचार्य शंकर ने ईश्वर को अज्ञानोपहित चैतन्य माना है। परन्तु ईशोपनिषद् में जो ईश शब्द आया है वह ब्रह्म के अर्थ में ही आया है। किसी भी उपनिषद् में ईश्वर को मायोपहित चैतन्य माना है। ऐसी श्रुतियों का अर्थ आचार्य शंकर यह कह कर करते हैं ये श्रुतियां व्यवहार काल को बताती हैं परन्तु मूल उपनिषदों को यह अमान्य लगता है एक श्रुति व्यवहारकाल की दूसरी पारमार्थिक काल की है।

२–केनोपनिषद्—इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन नाटकीय ढगं किया है। प्रारम्भ में प्रश्न किया है वह कौन सा देव है जो सब चक्षु, श्रोत्र और वाणी आदि इन्द्रियों को शरीर के साथ युक्त करता है। मन और प्राणों को भी कौन प्रेरणा देता है।[2]

इन सबका प्रेरण देनें वाला या शरीर के संयुक्त करने वाला वह देव परमेश्वर है। जिसको जानकर अमृत हो जाते हैं।[3] जो लोग ईश्वर को साकार मानते हैं, उनका खण्डन रूप में किया गया है। उस देव परमेश्वर को चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं माना जा सकता है। मन भी जानने में असमर्थ है अर्थात् उसका साक्षात्कार

---

१ पाजिटिव–नेगेटिव।

२ केन–प्रथम–केनेषितां पतति।

३ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो। केन प्रथम खण्ड, १–२।
वह परमेश्वर देव श्रोत्र का श्रोत्र मनका मन अर्थात् इस सब की शक्ति उसके कारण है।

आत्मा ही कर सकता है। उस ब्रह्म की महिमा वर्णन करते हुए कहा कि ये चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन तथा प्राणी बोलती है, मन मनन करता है। श्रोत्र सुनते हैं और प्राण गति करता है, उसी को ब्रह्म जानो, वही उपासनीय है। जिसकी साधारणत: उपासना की जाती है वह वास्तव में ब्रह्म नहीं है।1 जो लोग यह कहते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया वे अभी अल्प ही जानते हैं वह ब्रह्म शब्दों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है।2 इस उपनिषद् में ब्रह्म की महिमा का वर्णन रूप द्वारा किया है। ये अग्नि, जल, वायु आदि देव उस महादेव की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं। अग्नि में जलाने की वायु में उड़ाने की और जल में बहाने या गलाने की शक्ति उसी से प्राप्त होती है, इसका अभिप्राय: यह है कि जड़ वस्तुओं पर नियमन वही ईश्वर करता हैं। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म अनुभूति या आत्मा के द्वारा साक्षात्कार करने का विषय है न कि केवल शब्द द्वारा जाना जा सकता है। उसको प्राप्त करने के लिए ध्यान योग द्वारा प्रज्ञा को प्राप्त कर समाधियों का अनुष्ठान करना होगा।3 इस उपनिषत् में भी ब्रह्म की व्याख्या निषेधात्मक रूप में ही अधिक हुई है।

३ कठ—इस उपनिषद् में ब्रह्म के मुख्य नाम ओ३म् का प्रतिपादन यह व्याख्यान करके किया है कि जिसका सब वेद बर्णन करते हैं और जिसको प्राप्त करने के लिये तप और ब्रह्मचर्यादि का पालन किया जाता है वह ओ३म् पद से कहा गया है। इसी ओंकार

१- केन-यत्श्रोत्रेण.........तदैव ब्रह्म-केन-प्रथमखण्ड-४-५-६-७-८ ॥

२- यदि मन्यते सुवेदीति......वही-९ ॥

३- केन-द्वितीय खण्ड-तथा तृतीय खण्ड ॥

का उल्लेख अन्य उपनिषदों तथा वेदादि में मुख्य रूप से किया जाता है। कहते हैं उसी का आलम्बन ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि परमाणु से भी सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा अणु से भी अणु अर्थात् सब से सूक्ष्म है। आकाश आदि विभु आदि पदार्थों से भी महान् है अर्थात् उससे महान् है। साधक अपनी हृदयरूपी गुहा में विराजमान उस परमात्मा की महिमा,उसकी कृपा से निष्काम कर्मों और शोक रहित होकर उसका साक्षात्कार करता है।१ कुछ विद्वान धातु शब्द का अर्थ मन आदि इन्द्रियों से करते हैं। परन्तु यह प्रतीत होता है क्योंकि वेद में भी धातु शब्द को वा धातु शब्द से तृच प्रत्यय से धातृ शब्द का निर्माण किया जाय तो भी उसका अर्थ होगा पदार्थ मात्र जिसके आश्रित हो अर्थात् सबका धारण करने वाला उसका नाम कथन किया है। अतः परमात्मा का नाम धातु है। इन्द्रियों से धातु का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कुछ अन्य विद्वान जो ईश्वर को साकार होना मानते हैं वे महान् से महान् का अर्थ अवतार करते हैं, उनसे कोई पूछे क्या अवतार सर्वव्यापक होता है या एक देशी। इसका खण्डन अगले मन्त्र से ही हो जाता है। वह ब्रह्म अपनी सत्ता में सर्वत्र अगले गतिमान है अतः वह एक स्थान पर ठहरा हुआ भी दूर देश में जा सकता है। और सर्व व्यापक होने से लेटे हुए के समान वह व्याप्य वस्तुओं को सब ओर से घेरे हुए है। वह आनन्द स्वरूप होने से मद और इन्द्रिय अन्य हर्ष के होने से अमद कहलाता है। ऐसा ही वर्णन ईशोपनिषद् में तदैनति......कहकर किया है।

१- अणोरणीयान्महतो महीयांन्......कठ० २० ॥
२- सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वम्कल्पयत-कम् ८।८।४८।२।।
३- धीयते सर्वमस्मिन् दधाति सर्व वेति धातु।
४- आसीनो दूरं व्रजति-कठ० २४१ ॥

परन्तु अद्वैतवादी इसे जीव का वर्णन मानते हैं परन्तु यह उनकी भावना एक उपनिषद् की भावना के विरूद्ध है, क्योंकि इस उपनिषद में तो अनेको ऐसे स्थल हैं जहां ब्रह्म का भेद स्थापित किया है । उस ब्रह्म की व्यापकता ओर सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कहा है कि वह शरीर धारियों में शरीर रहित है और अनित्य वस्तुओं में नित्य है तथा अवस्थित है, इसप्रकार का विभु व्यापक मानकर भी साधक उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे शोक रहित हो जाते हैं।१ यहां उपनिषद् ने औपाधिक ईश्वर का खण्डन अशरीरी कहकर कर दिया है। इससे आचार्य शंकर की इस मान्यता का खण्डन स्वतः हो जाता है कि वह चैतन्य मायोपहित पोकर सौपाधिक हो जाता है, उसकी शक्ति से अस्त हो है, समस्त देव उसी में अर्पित है अर्थात् उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है।२ आगे व्याख्यान किया है कि जो ब्रह्म इस जन्म अर्थात् इस लोक में हमारे कर्मो का नियन्ता है वह परलोक में भी नियन्ता है, जो परलोक में है वही यहां पर भी उस प्रभु में जो नानात्व देखते हैं वे मृत्यु के ग्रास बनते हैं।३ इस कथन के अनुसार बहु देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से कथन की गई है। जिसप्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरों में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थों में तदाकार रूप में अवस्थित है इसीप्रकार एक अन्तर्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है। वह उनके अन्दर ही नहीं अपितु बाहर भी विद्यमान है।४ इस कथन के

१- अशरीरं शरीरेषु...........॥
२- कठ०-२४।६॥
३- कठ० ४।१०॥
४- कठ०-२।२२॥

अनुसार बहु देवतावाद या ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से कथन की गई है, जिसप्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरों में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थ में तदाकार रूप में अवस्थित है इसीप्रकार एक अन्तर्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है। वह उनके अन्दर ही अपितु बाहर भी विद्यमान है। ४ इसी वायु के दृष्टान्त से उसकी व्यापकता सिद्ध करते हुये माना है कि जैसे एक ही वायु समस्त लोक लोकान्तरों में प्रविष्ट हुआ तदाकार हो जाता है उसी प्रकार यह ब्रह्म भी सब भूतों का अर्न्तयामी होता हुआ उनके बाहर भी वर्तमान रहता है।१

प्रतिरूप से अद्वैतवाद को मानने वाले केवल ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध हुआ मानते हैं परन्तु उनका खण्डन अगले मंत्र में ही उसब्रह्म को निमित्त कारण मानकर कर दिया है। वह ब्रह्म जिस जगत का निर्माता है, वह उर्ध्वमूल है अर्थात् कारणरूप में ऊपर है। उसका कार्यरूप में (जिसे शाखा रूप) जगत् नीचे है। यह अनित्य संसार रूप वृक्ष प्रवाह से अनादि हैं, ऐसा वृक्ष जिस ब्रह्म के आधार पर स्थित है, वह ब्रह्म अत्यन्त ज्योति या पवित्र है, वही अमृत है, उसी में सभी देव अधिष्ठित हैं उसका उल्लंघन कोई नही कर सकता है।२ हे नाचिकेता यह वही ब्रह्म है जिसके विषय में तूने पूछा है। परन्तु यहां पर प्रत्ययवादियों का विचार है कि ऊर्ध्व मूल का अर्थ उपादान कारण है परन्तु उनका यह विचार इसलिए उचित नहीं है कि यदि यहां पर ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोंपादान सिद्ध करने का उद्देश्य होता तो ऊर्ध्व-

---

१- कठ०-५।६-१०।।
२- कठ०-७-१।।

मूल माना है। निमित्त होने कारण होने से शाखा पद के स्थान पर मूल पद ही होना चाहिए परन्तु यहां शाखा रूप में कार्य जगत् का वर्णन किया है। इस मंत्र में ब्रह्म को आधार आधेय भाव से निरूपण किया गया है आचार्य शंकर के मत में ब्रह्म ही सब कुछ होने से वह आधार आधेय निरूपण नहीं हो सकता, परन्तु यहां तो स्पष्ट रूप में उक्त निरूपण हुआ है। अश्वत्थ रूपो वृक्ष को कुछ आचार्य ब्रह्म रूप में मानते हैं परन्तु ऐसा अर्थ भी नही किया जा सकता है क्या ब्रह्म काल तक ही रहेगा।1 इस मंत्र के आधार पर शबलवादी जढ़ पदार्थों की शबल रूर में उपासना करने का यत्न करते है। अर्थात् शाखा से मूल तक जाना परन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष के विपरीत है। प्रत्यक्ष में सभी मूल में शाखा की ओर आते हैं। साकार पूजा का खण्डन पीछे भी कठ ने किया है। अर्थात् जड़ वस्तुयें अमृत कभी नहीं हो सकती हैं। वह ब्रह्म ही अमृत है। दूसरा कोई नहीं है।

४–प्रश्नोपनिषद्—इस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण प्रश्नोत्तर रूप में किया है। ब्रह्म के विषय का विवेचन करते हुए ऋषि पिप्पलाद व्याख्यान करते हैं कि जैसे पक्षी अपने वासस्थान रूप वृक्ष को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार यह समस्त जगत् के पदार्थ उस ब्रह्म में ही निवास करते हैं अर्थान् उस परमात्मा ने सूक्ष्म कोई भी नहीं हैं।2 इतना ही नहीं अपितु आये वर्णन किय: है कि जो उस प्रसिद्ध ब्रह्म

---

१ शबल ब्रह्मवादी मानते हैं कि ब्रह्मरूपी वृक्ष शाखा रूप सें शबल और मूल रूप से शुद्ध है। परन्तु यह मान्यता निराधार प्रतीत होतीहै क्योंकि जड़ पदर्थों की पूजा का खण्डन उपनिषदों में सर्वत्र प्राप्त है।

२ प्रश्नोपनिषद्–चतुर्थ–प्रश्न–७।

को अज्ञान से रहिता, शरीर से रहित दि व्रणों से रहित, प्रकाश स्वरूप, अविनाशी, परमात्मा भली प्रकार जानता है अर्थात् परम सूक्ष्म ब्रह्म का ज्ञाता सब कुछ जान लेता है और तद्रूप अर्थात् उसके गुणों को धारण करके महान् हो जाता है।[1] यहां अभिप्रायः यह है कि उस ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। यह केनोपनिषद् में भी कहा है।[2] यहां पर अद्वैतवादी सर्वज्ञः का अर्थ करते हैं कि वह जीव ब्रह्म होकर सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि अद्वैतवादी सर्वज्ञता आदि गुण शुद्ध ब्रह्म में नहीं मानते हैं फिर सर्वज्ञः का अर्थ ब्रह्म बन जाना मानना असंगत है। यहां अभिप्राय यह है कि सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः अर्थात् ब्रह्म को जानने पर समस्त विश्व को जानने वाला हो जाता है।[3] यहां परमात्मा को व्यापक बतलाकर उसके स्वरूप को निषेधात्मक रूप में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस उक्त उपनिषद् में ब्रह्म की महिमा, सर्वव्यापकता और वह जड़ पदार्थों से भिन्न है, उसकी संक्षिप्त रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है।

५–मुण्डकोपनिषद्— वह ब्रह्म अत्यन्त दिव्य, भूर्तधर्मों के रहित, सर्वत्र व्यापक, प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है। इसलिए वह उत्पत्ति से रहित है, प्राणों से रहित, मन से रहित है प्रकाश स्वरूप है। अव्याकृत प्रकृति से परम सूक्ष्म है।[4] समस्त संसार के

---

१ वही—चतुर्थ–प्रश्न–१०।

२ तस्मिन्नेवविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। वही।

३ पं० सत्यकाम विद्यालंकार– काभाष्य द्रष्टव्य। आर्यमुमि, ब्रह्म-मुनि भाष्य द्रष्टव्य।

४ दिव्योह्यमूर्त......मुण्डक० २–खण्ड १-२।

पदार्थों में निरुक्तकार यास्क मुनि के अनुसार षड् भाव उपलक्ष्य है। सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं।1 परमात्मा इन षड्भाविकारों से रहित है इसलिए उसे अमूर्त कहा है। अर्थात् वह निराकार है। उस निराकार ब्रह्म से ही मन, प्राण और इन्द्रियां आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उसी से पृथ्वी आदि। यहां निमित्त-कारण के रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।2

ब्रह्म का रूपक द्वारा निरूपण किया है। यदि हम उसे मूर्त-रूप में देखना चाहें तो यह अग्नि उसका मुख है। चन्द्र और सूर्य उसकी आंखे हैं, वायु प्राण है, समस्त विश्व उसका हृदय स्थान है। पृथ्वी पादस्थनीय है, ऋग्वेदादि उसकी खुली हुई वाणी है। वास्तव में वह ब्रह्म सबका अन्तरात्मा है।3 यह अलंकार रूप में उस विराट् ब्रह्म का स्वरूप निरूपित किया है। ये अग्नि आदि अवयव उसके आरोपित हैं वस्तुतः नहीं, क्योंकि वह तो सर्वभूतान्तरात्मा है। वही समस्त सृष्टि की रचना करता है।4

वह ब्रह्म सर्वत्र और सर्ववित है, और उसकी महिमा सृष्टि रचना से परिलक्षित है, वह परमात्मतत्व हृदयकमल रूप में वर्तमान है, ज्ञान रूप है, प्राण और शरीर का चलाने वाला है और प्रत्येक प्राणि में विद्यमान रहकर आनन्द की वृष्टि कर रहा है।5

---

१ अस्तिजायतेवर्धतेविपरिणतेअपक्षीयते विनश्यति इदि षड् भाव-विकाराः निरु० १-२।

२ मुण्डको०। २-३।

३ अग्निमूर्धा– मु० २.१.४।

४ २.१.५,६,७,८।

५ यः सर्वज्ञः – मुण्ड० २.२.७.।

उस ब्रह्म का प्रतिपादन है क्योंकि आगे कहा है कि वह ब्रह्म सर्वथा निष्कलंक है, वह ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे आत्मवित् विद्वान् जानते हैं। यहां रूपकालंकार द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, स्पष्ट रूप में कहा है कि वहां सूर्य का प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा, नक्षत्र, विद्युत और अग्नि उसको प्रकाशित नहीं करते हैं, वास्तव में उसी की अनन्त शाश्वत शक्ति से समस्त भूमण्डल प्रकाशित हो रहा है।[1] इसके अनन्तर उस ब्रह्म की सर्व व्यापकता का विशद रूप में उल्लेख करते हुए कहा कि यह अमृत रूप ब्रह्म सबसे पूर्व था, बाद में रहेगा। दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी स्थानों पर ब्रह्म ही फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व में वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ हैं यहां पर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित बतलाया गया है। अर्थात् जगत् से पूर्व ब्रह्म ही था अर्थात् यह रूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था। वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण ब्रह्म के सजातीय भेद की आपादक न थी, और स्वतन्त्र न होने के कारण सजातीय भेद की आपादक न थी, इसलिए ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है और ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता से एकमात्र ब्रह्म ही समस्त दिशाओं में है। इसीलिये कहा है कि वह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है।[2] यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का स्वरूप जीव से भिन्न है। इससे अधिक उपनिषद् और क्या स्पष्ट करेगी कि दीप्ति वाला ब्रह्म अणु से भी सूक्ष्म जिसमें भी लोक लोकान्तर निवास करते हैं और समस्त प्राणी भी अवस्थित हैं वह अक्षर ब्रह्म हैं। वही सभी की शक्तियों

---

१ मुण्डक० २.२.१०।

२ आर्यमुनि भाष्य द्रष्टव्य।

की शक्ति है। हे सौम्य वही लानने योग्य है।[1] इस उपनिषद् में ब्रह्म को परम ब्रह्म रूप में वर्णित किया है। अत: परम विशेषण केवल ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] अत: ब्रह्म ही से परम सब दृष्टियों से से है। जीवात्मा ब्रह्म (महान्) हो सकता है परन्तु परम

६–माडूक्य— माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का वर्णन बहुत अधिक सूक्ष्मता और गहनता के साथ हुआ है।

ओ३म् यह जो वस्तु या ओ३म् यह जो आत्मा है, सो यह अक्षर है अक्षर का अभिप्राय: यह कि जिसके गुण, कर्म और स्वभाव कदाचित् भी न बदले जैसे कोई कहता है कि यह अग्नि प्रज्वलित पदार्थ है, यहां कहने वाला का अभिप्राय यह है कि अग्नि जो मुख से बोला जाता, वह नहीं, और अग्नि शब्दस्याही से लिखा वह भी नहीं अपितु जलता हुआ साक्षात अग्नि पदार्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार ओ३म् जो तत्व है, या ओ३म् रूप जो आत्मा है सो यह अक्षर अर्थात् एक रस निर्विकार है न कि मुख से या स्याही से लिखा ओ३म् शब्द। यह समस्त जगत् उसका उपाख्यान है। भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक यह सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त नीनों कालों से अतीत भी ओंकार ही है।[3] यहां पर यह द्रष्टव्य है कि इस

---

१ मुण्डक–२.२.१।

२ उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन पुक्ति (हेतु) प्रधान न हो कर अनुभूति प्रधान है। स्वामी ब्रह्ममुनि।

३ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातभिभेय भूतं तस्या-मिद्यानाव्यतिरेकात् अभिधानस्य ओंकाराव्यतिरेकादोकार एवेदं सर्वम्। तस्यैतस्य परापर ब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्या-ख्यानम्। माण्डूक्य–शंकरभाष्य–पृष्ठ २५।

जगत् को उसका उपाख्यान कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड उस पर परमात्मा की सत्ता का सूचक होने से उसका उपाख्यान कहाता है। जैसे मूलमन्त्र या मूलसूत्रों पर के गूढ़ अर्थों को उनको टीका प्रस्फुटित कर देती है। इसी प्रकार चराचरात्मक जगत् ईश्वर के महत्व का बोधक होने से उसका व्याख्यान रूप है। इन तीनों कालों के अन्तर्गत जो कार्य रूप जगत् वह ओंकार का रचा हुआ होने से ओंकार की महिमा का वर्णन है।[1] आचार्य शंकर माण्डूक्य उपनिषद् पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि 'ओ३ऱ् यह अक्षर ही सब कुछ है यह अमिधेय (प्रतिपाध) रूप जितना पदार्थ समूह है, वह अपने अभिधान (प्रदिपादक) से अभिन्न होने के कारण और संपूर्ण अभिधान की ओंकार से अभिन्न होने के कारण यह सब कुछ ओंकार ही है पर ब्रह्म भी अभिधान अभिधेय (वाच्य वाचक) रूप उपाय के के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिए वह भी ओंकार ही है। यह जो परापर ब्रह्म अक्षर ओ३म् उसका उपाख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपाख्यान है।

आचार्य शङ्कर एक प्रकार से अभियान अभिधेय सम्बन्ध मान रहे हैं परन्तु यथार्थवादी व्याख्याकारों का कथन है कि बोध्य–बोध

---

१ माण्डूक्य-२। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपख्याख्यानं भूतं। भवदभूष्यदितिसर्वमोकांर एव पचन्यतिकालातीत तदप्योकार एवं अग्निरिति प्रज्वलित पदार्थ।

२ इदं सर्वतस्योपाख्यानम् इन्द्रियगोचर सबक्रियात्मक और ज्ञानात्मक जगत् क्रियात्मक उस ओ३म् रूपातमो का वोध करने वाला व्याख्यान है। स्वामी ब्रह्ममुनि–माण्डूक्यभ।

सम्बन्ध से ब्रह्म का वर्णन हुआ है। ओंकार का विवेचन करते हुए कहा है कि उक्त लक्षणों वाला यह सब में गमन करने वाला आत्म ब्रह्म समस्त पदार्थों से महान् है, यह आत्माचार प्रकार के विभूति रूप पादों वाला है 1 सभी कालों में जितना वस्तु जगत है यह सब उस पुरुष की महिमा है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके एक पाद स्थानीय है और उसके तीन पाद अमृत रूप हैं। जिस प्रकार यजुर्वेद में चार पादों का कथन है। इसी प्रकार यहां इस उपनिषद् में भी चार पादों का विन्यास है। जिस आत्मतत्व के उक्त चार पाद वर्णन किये गये हैं वह निश्चित रूप से जीवात्मा नहीं है किन्तु ब्रह्मरूप आत्म तत्व है। इसी भाव से अर्थ आत्मा कहा गया है। परन्तु क्षर्थ आत्मा से अद्वैतवादी विद्वान् जीवात्मा ग्रहण करते हैं। जो उक्त हेतु से उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि ब्रह्म के अर्थ में आत्मा शब्द अनेकों स्थलों पर आया है। परन्तु जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने के लिए अद्वैतवादी इसी प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। यदि यहां अयं आत्मा ब्रह्म का अर्थ यह होता कि जीवरूप आत्मा ब्रह्म है तो अयमात्माचतुस्पात् यह पद कभी नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा के भेदों या पादों का का वर्णन कहीं भी नहीं हुआ है अपितु ब्रह्म के चतुस्पाद का वर्णन वेदों में आया है। जैसा कि हम अभी देख आये हैं। अतः सिद्ध हुआ कि यहां पर ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।

परमात्मा का प्रथम पाद के रूप में व्याख्यान इस प्रकार है— जीव जाग्रत अवस्था में बाहर के पदार्थों का प्रकाशक है इसलिए उसे बहिप्रज्ञः कहा है। दो आंख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख में उसके सप्तांग कहलाते हैं। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्नेन्द्रिय

---

१ एतावानस्य महिमातोज्यायांश्च...यजु० ३१.३०।

और मन बुद्धि चित अहंकार ये सब मिलकर उन्नीस मुख वाला जीवात्मा को कहा है। अर्थात् ये १९ तत्त्व मुख्य रूप में हमारे शरीर में हैं। यह जाग्रत स्थान रूप में प्रथम पाद है।[1] दूसरे पाद का नाम तैजस रखा है क्योंकि स्वप्नावस्था तैजस् है। अन्त: प्रज्ञ रूप में कहा है। जिस अवस्था में पुरुष न किसी कामना की इच्छा करता और न कोई स्वप्न देखता है। सभी वृत्तियां विरुद्ध हो जाती हैं वह सुषुप्ति रूप तृतीय पाद है। यह तीनों पादों का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया है। वास्तव में ये तीनों पाद जीवात्मा की तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। सुषुप्ति में आनन्दमय अवस्था का वर्णन है। यदि जीव ब्रह्म का अभेद कहा जाता है तो चतुस्पाद में ब्रह्म का उल्लेख न किया होता,[2] वास्तव में यज्ञ प्राज्ञ नामा जीव का वर्णन है। ये विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों एक ही बोध की अवस्था भेद से संज्ञा विशेष हैं। परन्तु अद्वैतवादी जिस प्रकार अवस्था भेद से जीवन की तीन संज्ञा मानते हैं इसी प्रकार ब्रह्म की भी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन संज्ञा मानते हैं।[3] ये तीनों मायोपहित चैतन्य हैं। परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार विराट् आदि तीन शरीर तथा हिरण्यगर्भादि तीन भेद मानना ठीक नहीं है। उपनिषदों में इनका कहीं भी वर्णन नहीं आया है कि ब्रह्म से विवर्त हो कर ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि का मायोपहित चैतन्य रूप निर्माण होता है। ये उक्त सभी नाम तथा अन्य सहस्रों शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। इन शब्दों के प्रसङ्गानुसार अन्य अर्थ भी हो सकते हैं।

---

१ माण्डूक्य उपनिषद्–३।
२ वही–४।
३ वही–५।

जैसे कठोपनिषद् में एक स्थान पर वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के लिये हुआ है। ईश्वर वाची नाम में इसका अर्थ है कि समस्त विश्व का रचने वाला अर्थात् विश्वव्यापक।[1] परन्तु वैश्वानर आदित्य अर्थ भी आता है।[2] आचार्य शंकर भी तीनों अर्थों में वैश्वानर शब्द का अर्थ स्वीकार करते हैं।[3]

अत: उक्त तीनों पादों में जीव का ही वर्णन है, परमात्मा का नहीं। वह परमात्मा जिसका चतुर्थ पाद में वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी वह सबका कारण है। क्योंकि उससे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। उक्त तीनों पादों में जिस जीव का वर्णन किया था उससे विलक्षण ब्रह्म विवेचन इस प्रकार किया है कि वह ब्रह्म जाग्रत, स्वप्न में जीव जो बहिप्रज्ञ और अन्त:प्रज्ञ वह इससे भिन्न है अर्थात् वह तो सर्वज्ञ है। न ही अप्रज्ञ अर्थात् जड़ प्रकृति भी नहीं है। अदृश्य, सूक्ष्म होने के कारण अव्यवहार्य है, अमूर्त है, अर्थ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। सब चिन्हों से वर्जित है। वह आनन्द स्वरूप और सजातीय विजातीय

---

१ आचार्य शंकर और दूसरे अद्वैतवादी इन तीन पादों को अभेदपूर्ण, विश्वानर, हिरण्य ईश्वर रूप कहते हैं।

२ वेश्वानर: प्रविश अतिथि ब्राह्णोगृहान्–कठ० १-७।

३ वैश्वानर: साधारणशब्दविशेषात्–ब्र०सू० १.२.२४.।

स एष: वैश्वानरोविश्वरूप:–प्रश्न० १.७.।

वैश्वानरशब्दसु त्रयाणां साधरण:।

स्वगत भेद शून्य, ऐसे ब्रह्म को जो मानते हैं वह परमात्मा है और वही जानने योग्य हैं ।[1]

इस चतुर्थ पाद के रूप में ब्रह्म का वर्णन स्पष्ट रूप में जीव से भिन्न किया है। यदि ऐसा अभिप्रेत न होता तो यहां स्पष्ट कहा होता कि वह जीवात्मा अज्ञान से दूर होकर चतुर्थ पाद के रूप में ब्रह्म हो जाता अथवा वही ब्रह्म है ।

□ □

---

१ अनात्रश्चतुर्थौअव्यवहार्य—माण्डू० १२ ।

VEDIC ORIGIN OF DAYANANDA'S PHILOSOPHY

The origin of all speeches in ancient literatures is the Vedas. It came from the explanation of the Vedas. The Vedas contain two aspets–one is Karma Kanda and the other is the explanation of spiritual knowledge. Karma Kanda has been dealt with and established in the Brahmana literature and Jyan Kanda has been dealt with and established in the Upanisads.

To understand the customs and manners that is behaviourism of the Aryans it is necessary to have the knowledge of the Vedas. Those decisions and acceptances are not proved by perception, inference etc. are established by the doctrines and proofs as incorporated in the Vedas–they are self-evident and this has been agreed upon by Manu and others.

Regarding the origin of the Vedas it was the opinion of the ancient Aryans that kind and merciful God after creating the universe bestowed his blessings to all creature by giving to them the air, fire, water etc. In this way in the very beginning of the creation He bestowed knowledge of the Vedas to the men through the media of rishis. In that sense the Vedas are not man–made. But there are opposite views also–in their opinion the Vedas are man–made. Such

opinions are generally fostered by the western trend of mind. But all Indian literatures nourish the idea that the Vedas are self-evident and introspective witneses of the fact and as such they could not be man-mad. We observe in Purusa Sukta of Yajurveda that it has been clearly stated that Regveda, Samveda, Yajurveda and Atharvaveda come from the paratman, the symbol of all spiritual sacrifices. In this way Sukta of Atharvaveda proclaims that the vedas are the gifts of God, that is from the god the men understand the knowledge of the Vedas.

In all arsha literatures we find the validity of the vedas such as :

1 Vaisesik philosophy admits that the vedas are the proclamation of the God.

2 Nyaya philosophy advocates that as we admit the profitability all the medicines by testing a few medicines in this respect so by admitting the utterances of the wise sages we admit the validity of the vedas. Yoga phisosophy admits God as 'Gurus' in as much as the time of the last guru may be ended but God who created the vedas has no death–it is eternal and beyond time and space.

3 Maharshi Kapil of Sankhya system of philosophy admits that God has own natural power of learning and knowledge and as such the outcome of the vedas from him has its validity, eternity and axiomatic truth.

4 In vedanta philosophy it has been stated that the Vedas

are the media through which the enquiry about God can be made. It is God himself who has bestowed vedic knowledge to men for their welfare.

5 Acharya Sankara while making his commentary on the vedas remarked that the four vedas are interlinked with many branches of knowledge. The vedas like the sun illuminate all in true perspective. Its creator possesses the all-knowing attributes and he is Brahman. No human being can produce it. So it can be concluded that it is none but the parameswara who is fully qualified with all branches of knowledge.

Thus it can be presumed that for the self-evidences Sankra and other admitted that the Vedas have validity and they are contribution of God. Maharshi Dayananda in our modern age has tried to remove all misunderstandings about the inner essence of the vedas by refusing all untrue and mistaken ideas through his commentary of vedas and the commentators of the vedas taking from Ravana to Seanda Swami, Udgeeth, Bararuchi, Vatta Vaskar, Mahidhar, and other siyan of the middle age and in present age Maharshi Dayananda, Sree Aurobindo, Jodev Vidyalankar, Pandit Dharma Dev, Swami Brahmamuni etc. are the most noteworthy. Syan is the foremost commentator of middle age. It appears that Syan has given much importance to Karm-Kanda in his annotation of the Vedas. These commentators have practically limited the scope of the mantras in the vedas by liking up them with ritual sacrifices. Thus these commentaries are no longer vedic in sense.

The Western philosophers and scholars have annotated the vedas with new and expanding angle of vision. In their views the vedas are the pen-picture of primary stage of the Aryan society. It is apparent that they were all influenced by the trend of thinking of Sayan. Although these scholars have laboured hard and they have taken resort to free imagination but they could not catch the thread of inner knowledge and essence of the vedas. Some Western scholars call the vedas as the song of shepherds. But in the view of Sree Aurobindo, Acharya Sayan is responsible for such thinking. Whether they are belonged to middle age or the nineteenth century European philosophers they all committed the same mistakes by misinterpretting the mantras of the vedas. This was due to references of many gods in the vedas. These scholars have only accepted the established powers of the deities as gods but Dayananda goes deep to unveil the inner significance according to the system of Nirukta. Dayananda observed that qualities and not the powers are the criteria to determine the definition of gods. Nirukta clearly pointed out that the mantras which indicate the quality of a particular entity are the real essence and such particular and particular entity may be qualified as gods. As for example Riju Veda (3/14) proclaims 'Bacham te sudhari' which mantra signifies that wisdom is the god. Thus we may observe that here the parcicular mantra establishes the validity of knowledge and wisdom. Dayananda explained the desire and aim of the mantra as its subject matter as envisaged in vedas viz. mantra fourteen in Chapter six of Rijuveda whereas Ubbot did not explain the word 'devata' in that sense—

as the off-spring of the she-goat is called for in sacrifice and with this mantra its body is washed for being offered to God—in this case the mantra has only been utilised in outer sense. I do not want to amplify the matter in more details. For special and particular knowledge Dayananda in the preface of his commentary of the vedas tried to explain the manner of interpretation and for this purpose, he examined a few mantras as proclaimed by Mahidhara Sayan, Ubbot and others. For this fact Sree Aurobindo accepted the style of commentary of Dayananda as scientific and truthful exposition of the facts. In the view of Dayananda the vedas manifest two aspects that is dharma and reality — and there is no fanciful words. With this view I may add my own opinion to the effect that in the vedas are the exposition of the reality of scientific truth. Dayananda has reliance that there are three entities in the vedas, Parameswar, nature-born Atman and the Prakriti. But due to old belief ignorance, disorder and haziness in the ideas in the old ages the right angle of vision of the rishis were blocked. Dayananda cleared away this antagonist position of the current to allow the flow in right way.

Dayananda established the scientific relationship of the knowledge of the science of mathematics etc with the spiritual elements like Brahman, Atman and Prakriti as envisaged in the vedas. It is a fact that no research work has yet been carried out by vedic scholars in this respect. But Dayananda before the actual invention of aeronaut discovered some vedic mantras which really indicate the science of aeronaut. This fact was unknown to European world — and that was not even imagined

by them. Such fact has been incorporated by the Dayananda in his commentary of Rigveda etc. Sree Aurobindo advanced his views that the vedas contain some scientific truths which are still unknown to modern science. Dayananda was able to discover this by his detail and minutest investigation in the matter although Sayan and other scholars still hold the view that the vedas only signify the Karma Kanda that is the human activities and to which the European scholars only adduce reatons for worshipping of the powers of Prakriti. Now the vedas are deemed as treatise of spiritual knowledge as well as the literature containing source of other knowledges.

From the above standpoint a few scholars admit that in Upanisadistic ideas there is a revolution against the ideas as contained in the vedas — but it appears that this sort of fanciful ideas are not proper. The culture of spiritualiam as we find in the Upanisadas has come from the vedas — the vedas are the fountain from which the stream of the Upanisadas has come forth. That is there is no contrary conception of vedic ideas in Upanisads.

Maharshi Dayananda tried to establish the realistic philosophy of the vedas which we may call it 'Trait Vad' that reality of the three entity — they are Iswar, Jiva and Prakriti in their proper form. The Upanisads try to establish the doctrine of one and only one Brahman — the vadas also admit worshipping of one Isvara. It is a fact that the vedas call this one and only one God in many names — this may be possible. u this pluralism does not denote many gods rather they are

nothing but different power of God which he possesses. We find in 32th Chapter of Yajur veda and in 4th Chapter of Swetaswetara Upanisad that God has been called by name of Agni, Aditya, Vayu, Chandrama, Sukra, Upa (Water). In this way the Rigveda proclaims the names of Indra, Barun, Matarishwana etc. as symbol of God — that is all is one — this is unity in diversity.

Rig veda and Swetashwetara Upanisad clearly indicate that know that Paramatma in whom all gods come in which means that God pervades all.

The Upanisads follow the validity and authenticity of the vedas and do not refuse the views of the vedas. Kathopanisad while describing the Brahman agrees that the ways to know the Brahman are incorporated in the vedas. The Brahmins by reading the vedas desire to know Paramatman. Mundakopanisad states that fire is the mouth of that Paramatman and the moon and the sun are its eyes and the four directions are its ear. Rig and the other vedas are its speeches. The vedas are the manifested knowledge of the Paramatman. Therefore, the inner significance and inner witness of the Upanisads proclaim the validity of the vedas. It appears that there is no difference between the contents as we see in 40th Chapter of Yajurveda and Isa Upanisad if we leave apart a few mantras — the upanisad has entertained all other mantras as it were in the vedas. The Upanisads are the essence of the vedas. The Upanisads contain the elixie which we find in the vedas. Ritualism and Karma are the fundamental basis of the Upanisads and the Upanisads are the limbs of the veda. I have

already given some proofs in this regard and will try to give further proofs in the subsequent chapters. I have told already that in realism my intention is declare that Brahman, Atman, Prakriti and other matters composed of Prakriti are the inner essence. Then it would be established that there is no contrary ideas between the vedas and the upanisads rather the upanisads accept the views of the vedas. Having observed all these facts I can say that there is no inconsistency and incongruity regarding the principle of the trio that is Brahman, Atman and Prakriti as envisaged both in the vedas and in the Upanisads.

The decisions as we observe in the Upanisads indicate that there is one Brahman. According to the view of Sankara Brahman is only 'Sat' and all others are maya influence consciousness. Brahman is the efficient cause of all matters in the world. But if we have to accept the vedas on the substratum of the Upanisads then the views of the Sankara would not be deemed proper in all. It is a fact that many vedic mantras signify the reality of one Brahman but at the same time the vedas also agree to the existence of atman and the matters from which the world is composed of. Likewise the upanisads interpret the vedic mantras and come to conclusi onwhich the vedas leave not done. The difference is that the vedas are like oceans which is the source of all knowledge. The Upanisads are only one limb of the vedas which explains the spiritual aspect of Jyan Kanda. I will try to find out the aim and desire of the Upanisads more distinctly and clearly in this regard subsequently. Here I only like to point out the equality of relation of the mantras as in the Upanisads in the matter of determination of Brahman.

The manner in which the Upanisads have accepted the doctrine of one Brahman, the vedas also describe and define the Isvara in the same way.

(1) Whatever inanimate and animate existed in the creation are pervaded by Parmeswara.

(2) Parameswar is the matchless Lord and Master of the whole universe. This supreme Entity has been definen as Parampurusa, Lord of creation, God of all gods who is often called by the name Brahman etc as found in many mantras.

(3) To know Brahman means to know the whole universe. Because Brahman is the minutest of all minutes.

(4) The wise brahmins use to worship this one Brahman with devotion and use to propitiate Him with devotional speeches.

(5) We all pray to God for our protection who is the Lord of all movable and immovable objects and who bestows intellect to us.

(6) That one Isvar is called by many names viz., Fire, Air, Moon. Yama, Matarishwan etc.

(7) Oh the Supreme Spirit, Oh the majestic Parameswara! There is none in the earth and tne heaven like you and it never be so. We all worship and pray you with all our worldly objects.

(8) The vedas while describing the qualification and attributes of the Parameswar state that He has no physical body. He is pure and auspicious. He has no artery and vein, He is free of all vices, He is unborn and self-existent.

Indian scholars influenced by the trend of thinking of western philosophers use to say that there exists no Brahma-vidya in the vedas — it was evolved subsequently in Vedangas that is Upanisads. However, someones admit that there were some rootal development of it at the end of the vedas — it is the conception of monotheism. But Dayananda proclaims just the opposite — in his views that primary essence of the vedas is to attain the final goal in life that is to obtain the Parameswara. This idea has been established in all vedic speeches — whether it is through revelation or through the conception of Parametman. Maharshi Dayananda in order to establish his views in this respect adduce proofs from Kathopnisad. The entire vedic hymns contain the spirit of 'Om'. This is not all, moreover the vedanta philosophy proclaims that is encomium of Brahman in the vedas. In reality we observe that the description of the Brahman as we find in the vedas does not indicate that there is no other powerful entity like Him but it is the fact He was the God of all gods and He is all-powerful. He is all-pervading and omni-present, He is all-knowing. He knows all that passes in our life — He has all these attributes. The doctrine of monotheism has been dealt with nicely in the vedas and it has also been dealt with in other scriptures but still European scholars state that the conception of monotheism comes of from the Dravidian. It is indeed a strange fact how they surmise this with solid reasoning and ground — so it may be called a fanciful idea. So in the view of Dayananda there is no polytheism and henotheism in the Vedas. Maxmuller has also refuted this idea with valid grounds — he defined that Kathoism means to worship one god

instead of the other and henotheism means to worship gods separately. In this regard Dayananda observes that these scholars have interpret the right meaning of the word 'Devata'. The word Devata should not be used to indicate Iswara in the literal sense. But etymology of Nirukta signify the word Deva otherwise — it indicates that Deva means who bestows just as which gives life is Deepa, who gives advices or nurses, is the parent. In that sense Deva must be such and such who bestows, who illuminates and so on. Therefore, it may be concluded that worship of God as in the Vedas means the worshipping one God.

Like the vedas we find so many names of gods in the Upanisads — to whom Dayananda calls Om or Primary one. In so many mantras in the Upanisads we find the word Om to signify the principal name of the Isvara. Likewise the word Brahman comes in by name 'mayabin' etc. to denote one God. The explanation of this view be given later on, at present it would be my endeavour to find out the consistency of these words as envisaged in the vedas and the Upanisads. The names of gods we find in the Upanisads in conformity with the vedas denoting polytheism of gods have been duly examined and refuted for establishing the theory of one God. The names of gods we find in the Upanisads in relation to the vedas indeed denote Parameswar. In Swetashwetar Upanisad that is called by different names such as Agni, Aditya, Vayu, Chandrama, Apa etc. They are nothing but Om — the indestructable Brahman who is the shelter to all. But muttering of prayers of Om one can get the Brahman. That Om is be-all

and end-all of life. That Om is the only fact of the entire universe. Omkar pervades the past, present and the future. Prasna Upanisad proclaims that Omkar is the Brahman and is called para and apara. Again it states that Om it the Brahman itself, who is known by tapas and obeying the laws of brahmcharya. That one walks on without legs and sees without eyes. Brahman exists in all matters of the world in minutest form and is extended like the endless sky. In Upanisads the Brahman is called a giver of enjoyment and the jivatman is the enjoyer. In Mundaka Upanisad we find a nice simile: two beautiful birds sit on a tree symbolising the Prakriti. One of the birds is enjoying the taste of the fruits and the other one is sitting on as witness observing it indifferently. Dayananda makes his analysis of this. In his views among them one is Brahman and the other one is jiva. The jiva is the enjoyer of the fruits of action in his worldly life and is subjected to all virtues and vices and here the tree symbolises the external world. The other one who is Paramatman who is silent spectator is above all the enjoyments and sorrows that is He is althrough and everywhere revealed. Mundaka Upanisad further states from which it appears clear that here the enjoyer jivatman is fully absorbed in the Prakriti in the form of the tree, that is in the material objects of the world — the enjoyer remains under delusion by the power of the Prakriti. The devotee who is free from all attachments realises his identity with Paramatman by purifying his soul and then only be visualised the magnificent glory of the God and the heavenly creation and he becomes free from allsorrows and sufferings From this fact it is evident that the upanisadistic Brahman is the

giver and the jivatman and Prakriti the enjoyers of fruits — the Brahman is sovereign power. Brahman is all-pervading Omnipresent, Omnipotent, composer of the creation, Sustainer and destructer. The jivas are less powerful; minute and bounded. He is separate from action and a parasite to enjoy fruits of action. Prakriti is the unconscious element and the material cause. Those holy writs which advocate strongly the dualism in the Upanisads are, in the view of advaitvadin nothing but the writs of daily practices and usages. But in the Upanisads such indications are not traceable. Now the question is whether in this circumstance can we say that there is no description of creation in the Upanisads ? If, however, there is description of creation how it can be said unreal and false ? Then what would be the basis for acceptance of the principle of transcendental and empirical aspects of existences ? Acharya Sankara to understand the reality of Brahman has taken resort to the material world — but the question how in that case the material can be treated as false and the Brahman can be transcendental one ? That is, how the transcendental existence can be proved from the falsehood that is an unreal aspect ? Really speaking this idea of empirical substratum which in the opinion of advaitabadin is different encourages Dayananda to enunciate his principle of Trios, which is indeed a realistic trend of thinking. In the view of Dayananda the Upanisadistic Brahman is the creator of the universe — from whom all the great elements are produced and remain in their own state of existence. In time of universal dissolution they all are mingled together and rest in Brahman in unmanifested forms. For this reason Dayananda states that Brahman is the efficient cause of all,

which is also advocated by the Taittiriya Upanisad — in its view at first all were unmanifested and later on they were manifested and this change was brought forward by Brahman. This has been explained by me previously. In the view of Maxmuller the realistic style of description of the creation we find in the Upanisads give no loophole for ascertaining the principle of illusion. Practically speaking the manner in which the creation has been described in the Upanisads is indeed a most realistic approach. It is the intention of Dayananda to say that the no representation of mayabad of Sankara is found in Upanisads. It is a fact that we find the word maya in the Upanisads but that one is not same maya as used by Sankara, moreover the meaning of maya denotes Prakriti. Swetaswetara Upanisad clearly states — know the maya as Prakriti. It appears that Prakriti of the system of Sankhya Philosophy and maya of the Upanisad is one and the same. For this reason Sankhya philosophy states that Prakriti of Sankhya system possesses the quality of doctrine of teleology. It is said with certainity that Brahman is eternal of all eternals that is Brahman is the Lord of the jiva and Prakirti which are eternal in existence.

Dr. Radhakrishanan opines that the realistic trend of thought of the Upanisads emphasises the ideas of Sankhya philosophy. In the context it is clear that Upanisads do not advocate mayabad but it is a realistic approach.

The questions are : what was the condition of Prakriti before the creation under the complete state of dissolution?

What was its form? Who was the creator? Answers to these questions are given by the vedas, which are indeed deep-rooted. 'Nasadiya Sukta' of the vedas have nicely solved the philosophical problems on the spiritual angle of vision, Western scholar Maxmuller who admits that the vedas are composed by the rishis views that these Nasadiya Suktas were really ushered upon the rishis by the grace of Paramatman. It is, therefore, necessary to consider some of these mantras.

1. In that time which was not that was not also present, which has that was not existent. There was no existence of the earth,there was no existence of endless sky. What was present which may cover up? What were the position of the objects? Was there any deep and inaccessible span of water?

2. At that time there was no death and no immortality. There was no difference between the day and the night. Only that one (Paramatman) was alive by his own power without the help of air which was only in existence by his own breathing. Beside him there was nothing.

3. At that time, at first darkness was covered by darkness that is unmanifested Prakiti was covered by darkness. There was no sign of any existence—all were covered by the water. He (Paramatman) was concealed althrough by all non-existent things. By influence of tapas one was born — that is unmanifest became manifested.

Here one may observe the explanation of Dayananda.

4. At first desire had its first manifestation on the mind—from which appeared the cause of the first creation. The men of

intelligence having considered that fact in the mind determined the source of existent objects in non-existent object.

5. Men having semen were appeared and the elements were evolved. Their ray of light was spread over on two sides and upward and downward, that is a self-supporting principle beneath, and energy aloft.

6. Who knows it properly? Who will describe it? Where from it was born? Where from such creations come? The gods were born after such creation. Who can know where from all created?

7. He that One from whom all these creations have come forth can have the knowledge of the same. If not the creation would loose its essence. He who is the magnificient Om is the Lord. Know Him. If you do not know Him there would be great harm.

(The meaning of the above mantras was taken from Rigveda vasya Vumika by Joydev Vidyalankar)

Some modern scholars on whom there is the influence of Sankara try to find out the clues of advaitbad in these verses. So it is a matter for consideration firstly regarding position of existent and non-existent thing in these verses. This has been refuted. If, in these mantras there was only existent objects and no scope of non-existent thing then this fact will strengthen the decision of Sankara in this respect in as much as in the view

of Sankara the 'sat' has no obstruction and refutation. But the vedas admit both 'sat' and the 'asat'. In this context it appears that the meaning of the word 'sat' here does the world in the form of action. And 'asat' means want that the negation. This fact reveals that there was no complete negation rather the casual Prakriti was in unmanifested condition. Isvar by His own power of desire created an agitation in it. The interpretation of the mantra by Acharya Sayan in this regard is absurd like that of the horn of a hare. And it is expressible but in relation to two it is also expressible. This fact proves that Sayan had influence of Sankara upon him. But possibly here Sayan hid the significance of the word 'sat' as used by Sankara and considered its meaning as 'no-sat' that is the opposite meaning of the word. When Sayan deny the primary cause of the creation of the world like that of the born of a deer—then how can we admit the existence of Prakriti in clear and distinct form? How can it be called inexpressible? In the vedas we find description of the creation on the philosophical angle on vision: 'Dwa Suparna Sayujaskhaya' such references we also find in the Upanisads. Its meaning has been explained in this chapter. That is two birds are sitting on a tree symbolising the moving Prakriti. The mood of the one bird appears to be indifferent and disinterested and the witnesser. The other one is tasting the fruits of the tree. One who is tasting is subject to the consequences of sorrows and sufferings—and the other is not. Here, the simile of the tree represent the Prakriti.

The vedas and the Upanisads admit the lordship of Isvar in the creation. Besides Nasadiya verses we find this subject matter in Purusa Sukta of Yujurveda and in Skamva Sukta of

Atharvaveda. Purusa Sukta indicates that the univerce is composed of by twenty-one elements. Those elements cover all-around and seven layers. There is description of the creation of the Moon at first, then there is creation of beings. In this way we may observe the composition of the creation by way of questions as envisaged in Atharvaveda.

Likewise I have seen that Dayananda in his books has considered the nature of Prakriti as in the vedas and Upanisads and set it on the stone of realism. Acharya Sankara has explained the Upanisads in the light of idealism (monism). But only those philosophical explanations would be deemed proper which are associated with the veadas. I have already tried to establish that the Upanisads are the self-evident proofs of the vedas. Besides Dayananda the great scholar Dr. Radhakrishanan also accepts the principle of the eternity of Prakriti. But after due consideration it become clear that the vedas reflect the idea of realism in proper form.

The basis of the theory of realism of Dayananda as regards to the vedas are revolutionary one which has been described by him in new style commentary. Thus it is established after refutation that the vedas are not the book representing only the rituals and religious performance but they represent the problems of mankind and solution thereof.

Acharya Sankara, Ramanuja and Dayananda are in accord that the knowledge of the vedas is God conferred. Dayananda has made his commentary of the vedas in the age of realism where as it was done by Sankara in that age when the Buddha philosophy required refutation for obvious reasons. It was the

time when the vedic culture was in defunct state. Buddhistic principles only gave preference to the processes of worldly living. The glory of the Brahman and the acceptance of the vedas were ended by the influence of Buddhism. Probably for this reason Sankara tried to establish a theory which would indicate that Isvara is the be-all and end-all of all things—he also refuted the conception of Prakriti. Those were found necessary in that era. Appearance of Dayananda was marked with the appearance of realism in the history of philosophy. Both those philosophers had their own acceptance in their own ages but Dayananda by his commentary of the vedas placed the Indian culture before people of the world in be-fitting and in wonderful style and manner. For this reason in the age of science there comes a tendency of investigation in the realm of the vedic culture.

From the revolutionary ideas of Dayananda it appears that the contradictory views which exist in ancient literatures in this regard have given birth to-day a comparative study which the scholars have adopted in wonderful manner.

१- तस्मात् यज्ञात्सर्वंहुतः सामानिजज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥
यजु०अ० ३१ भह० १०।८०।१७

२- तस्मादृच अपातक्षन् । सा मानि लोमान्यथार्वाङि्गरसो मुखं

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (यस्माहच०)

जो सर्वशक्तिमान परमेश्वर है, उसी से ऋग्वेद, साम, अथर्व और यजु ये चारों उत्पन्न हुये हैं। इसी प्रकार रूपकालंकार से वेदों की उत्पत्ति चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका वैदिक मंत्रालय से मुद्रित पृष्ठ ११-१२ तक

३- तद्वचनाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिक दर्शन आ० १-अ० १ सू० ३

४- मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यात्।

५- एष पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्।

न्याय द०अ० १-अ० २ सू० ६७

६- निजशक्त्याभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। सांख्य दर्शन अ० ५-सू०५१

७- शास्त्रयोनित्वात्। (वे०सू० १।१।३)

८- ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य............सर्वज्ञः कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न ीदृशस्य..................सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्र यस्मात्..... .....इति सिद्धं लोके............वक्तव्यमिति।

वे०अ० १-पा० १-सू० ३ पर शंकर भाष्य॥

९- ....एवं वेदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता............कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्। काण्वसंहिता–सायण आचार्यकृत भाष्य उपक्रमणिका से।

१०- वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है कि जिसके लिये सायण उत्तारदायी है कि वेद एक ऐसें आदिम जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति संहिता हैं। जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिनका दृष्टिकोण बिलकुल

वच्चों का था। (वेदरहस्य-भाग १-पृष्ठ ३१ श्री अरविन्द अनुवाक
अभय-१६४८)

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थापत्यन्।
इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्तेतद् दवतः स मन्त्रो भवति॥ (निरुक्त अ०
७-१ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका वेद विषय विचार)।

11- There is nothing fastestic in Dayananda's idea that Veda contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains other truths of science the modes world. It as Dayananda held on strong enough grounds, the vase reveals us to God..... Soul—God and Nature.....I am convinced that what ever may be the final complete, Dayananda will—the first discover of the right dues. Amidst misunderstanding, he was the eyes of direction vision.....truth and fastened. He has found the keys of the doors that time has closed as under the seals of the imprisoned fountains.

'Sri Aurobindo' Bamkim Tilak Dayananda—p. 57, 3rd Ed.

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में नौविमानादि अध्याय में ऐसे विमानों का वर्णन हुआ है, जो संलून १६०२ में उड़ा था लोकलोकान्तर में जाने की तो समस्त पश्चिमी जगत् में कल्पना भी नहीं थी।

१२- तदेवाग्निस्तदादित्यस्यद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेवशुक्रं तद् ब्रह्मता आपः स प्रजापति – यजु० ३२-१-श्वेताश्वतरोपनिषद्-४,२॥

१३- इदं मित्रं वरुणमाग्नि यम मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद – १।१६४,४६)

१४- ऋचोक्षरे परमे व्योमन यस्मिन् देवा अधि विश्वेनिषेदुः ।
यस्तन्नवेदकिमृचां करिष्यति य इत तद्विदुस्त इमे समासते ॥
(ऋग्वेद - १।६४।३९ ॥ श्वेताश्व० ४-८।) ।

१५- सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । (कठोपनिषद् - २।१५।) ।

१६- तथा तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ।
(बृहदा० ४।४।२२) ।

१७- तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षाः । (मुण्डको० ४।१।६) ।

१८- अग्निमूर्धाचक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिश श्रोत्रेवाग् विवृतांश्चवेदाः ।
वायुप्राणोहृयं विश्वमस्यपद्भ्यां पृथिवी हेण सर्वभूतान्तरात्मा ।
मुण्डको० २ (१।४) ।

१९- ते वा एते उसानां वेदाहि रसास्तेषामेते रसाः ।

तानिवा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदाह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ।
(छान्दोग्य० - ३।५।४) ।

२०- तस्यै तपोदमः कर्मरैति प्रतिष्ठावेदा सर्वंगानि सत्यमापतनय ।
(केन० ४।७।८) ।

२१- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किच जगत्यां जगत् ॥
(यजु० ४०-१-ईशो० १) ।

२२- पतिर्वभूथासमो जनानामेकोविश्वस्य भुवनस्य राजा ॥
(ऋग्वेद – ६।३६।४) ।

२३- सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स ब्राह्मण महत् ॥
(अथर्व० १०।८।४७) ।

२४- यत्र लोकाश्च कोशांश्चापों ब्रह्म जनाविदुः ।

यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव स ॥
(अथर्व० १०।७।१०)।

२५- ब्रह्माणं ब्रह्मवाहमं गीर्भि सखायमृग्मियम्।
(गांदोहसेहुवो – ऋ० ६।६।४५।७)।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रूवन्।
यस्तवैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे। (यजु० ३१।२१)।
ओ३म् ब्रह्मश्वं ब्रह्म। (यजु० ४ ।१७)।

२६- तमीशानं० जगतस्तस्थुषस्पति-(ऋ०अ० १-अ० ६ व १५-मं०५)।

२७- तदेवाग्निस्तदादित्य ....। (यजु० ३२।१)।

२८ नत्वावां अन्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।

२९- स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमवर्णमस्नाविरंशुद्धमपापविद्धं कविर्मनीषी-
परिभूः स्वयंभूर्याथा तथ्यताऽर्थान् व्यवर्धादछाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

30- The conception of Brahman which has been the highest glory for the Vedanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the association of the sacrificial mind. S. N. Dass Gupta-A History of Indian Philosophy—Vol. I. P. 20-printed-1922

३१- एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्ये अर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति ॥

३२- तदेवब्रह्मसर्वत्रवेदवाक्येषुसमन्वितं प्रतिपादितमस्ति-ऋग्वेदादि-
भाष्य पृष्ठ ४९-ऋग्वेदादिभाष्य० वे. वि. च. संवत् २००८-
पृष्ठ-५० पर।

३३- क्वाचित् साक्षात्क्वचित्परम्पराच अत: परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मै-वास्ति । वहा पृष्ठ ।

३४- सर्वे वेदा यत्पदमामनान्ति — (कठो. १।२।१५) ।
तत्तु समन्वयात् —(वे. १।१।४) ।

35- It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoning to be have a name different from polytheism, to signify this worship of single gods, each occupying for a time as present position and proposed for it is the name of Kathenotheism that is worship of on God often another or of Monotheism, the worship of single God.
—'Max Muller' India what can it teach us, p. 145-14-1892

३६- यह उन वेदज्ञों की भारी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ १७५। इसी अध्याय के प्रारम्भ में हम देवता शब्द का वास्तविक अर्थ बतला आये हैं।

३७- बिरुक्त-देवताकाण्ड-७।१ ।।

३८- तदेवाग्निस्तदादित्य--(श्वेता० ४।२) ।

३९- एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एत ध्यमेवाक्षरं परम । (कठ० १-२-१६-१७) ।

४०- स भूयं एवेन्धनयनोनिगृह्यस्तध्दोभयं वै प्रणधेन देहे ।
(श्वेता० १।१३) ।

४१- य ओमित्येतदक्षरमिदो सर्वम् । (सर्वंओंकार एवत्माण्डुक्य-१)

४२- एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदो ओंकार । (प्रश्नो०५।२)।

४३- ओमिति ब्रह्म...............। (तैत्तिरीय० १-८) ।

४४- तते पदं सग्रहणे ब्रवीम्योमित्येतत्-(कठो० १/२/१५)।

४५- अपाणिपादो जवनो गृहीतो पश्यत्यचक्षु।
तमाहुग्रयं पुरुषं महत्ताम्। (श्वेता० ३/१९)।

४६- द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।
(मुण्ड० उ० ३/१/१)।

नोट→ईश्वर के सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण उपनिषदों में आये हैं। यहां तो केवल वेद की तुलना के लिए अल्प ही प्रमाण दिये हैं।

४७- सत्यार्थ प्रकाश स० ७।

४८- सामने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशयाशोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशस्य महिमानमीति वीतशोकः॥
(मु उ ३/१/२)।

४९- आचार्य द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री—इन मंत्रों पर स्वामी ब्रह्ममुनि, आर्यमुनि, शंकर देव, काव्य तीर्थ, संस्कृति साहिच्य - विमर्श पृष्ठ १५ आदि का भाष्य द्रष्टव्य है।

५०- यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रत्याभिसंविशन्ति। (तै० उ० भृगुवल्ली-अनु० १)

५१- असद्वा इदमग्र आसीत्। तता वै सदजायत। तदात्मानंस्वयमकुरुत। (तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० ७ मं० १)।

53- **This Idea that the world is only Maaya and illusion, avision a nothing was that cale brooks meant when he said it**

was absant from the Upanisadas as the original Vedanta Philosohpy and so for he is right.

—The Vedanta philosopy p. 70- Max Muller.

५३- मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। (श्वेता० ४/१०)

५४- श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य-(साँख्य० सू० ५/२) ।

५५- नित्योऽनित्यानां चेतनाश्वेतनानामेतो वहूनां यो विदयतिकामान् ।
(श्वेता० ६/३) ।

56- The realistic tandsnicies the Upnishadas receive emphesis in the Samkhye consception of the Univeas.
—Indian Philosophy-Vol.2-p. 250 by Dr. Radha Krishnan.

५७- नासदासीन्मो सदासीत्तादानीं द्रजोनो व्यमाऽपरोयत् ।
किमारीव कुहकस्यशर्म्मनम्भ: किमसीदगहनं गम्भीरम् ।।
ऋ० १०/१२६/३) ।

५८- न मृत्युरासीद मृतं न र्ताह्निरात्र्या अहन् आसीतृ प्रकेतेः
आनीदवनं स्वधयातदेकं तस्माध्दान्यन्न परः किंचास ।।
ऋ० १०/१२६/२) ।

५९- तम आसीतमसा गूढ़तमग्रेअप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनाम्बपिहितं यदासीत्तापस्तनमह्निनाजार्यतकम् ।।
(ऋ० १०/१२६/३)

६०- यदाकार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तादाघत स्पष्टे प्राक् शून्यमाकाशमपि

नासीत्। कुतः तदव्यवहारस्य वर्तमानाभावात् तस्मिन् काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत् सत्संज्ञकं यज्जगत्कारण तदापि नो आसीन्नावतेत्.............. किन्तु पर ब्रह्मणः .... परमकारण-संज्ञकमेव तदानीं समवर्तत ॥
(ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका-सृष्टि विद्या विषय-पृष्ठ १३१ आठवीं बार-संवत्-२००८)।

६१- कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोषवन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतिष्य काव्यो मनीषा ॥
(ऋ. १०/१२९/४)।

६२- तिश्चीनो विततो रश्मिपेषमधः स्विददसीदुपरि स्विदासी इत्।
रेतोधाऽसन्माहिमान आसन्त स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥
(ऋ० १०/१२९/५)

६३- को अध्दावेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि।
अर्वाग देवस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥
(ऋ० १०/१२९/६)।

६४- इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे वाम ।
यो अस्याध्यक्षा परमेव्योमन्त्सो अंग योदयादि वा न वेद ॥
(ऋ० १०/१२९/७)।

६५- 'त्रिकालाबाधितं सत्' (शांकर भाष्य-ब्रह्मसूत्र)

६६- जगतो मूल कारणं तदसच्छशशविषाणवन्निरूपाख्यं नासीत.........
नो सन्भैवसदात्मवत्सत्वेन निर्वाच्यमासीत्.........उभयबिलक्षण-मनीर्वाच्यमेवासीत्। ऋग्वेद संहिता १०/११/१२९/१-चतुर्थ-

खण्ड-सायण ।। भाष्य ।। मेंक्समूलर सम्पा० चौखम्बा संस्कृत-ग्रन्थमाला वाराणसी-१९६६ (इस प्रकार अज्ञान भाव रूप है । अर्थात आकाश कुसुम के समान अभाव रूप नहीं है । उपर्युक्त का भाव है ।)

६७- ऋग्वेद—१/१३४/२ ।।

६८. एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघममण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल और जल से उपर एक प्रकार का वायु, छटा एक अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनंजय कहते हैं। सातवां सूत्रात्म-वायु जो धनंजय से भी सूक्ष्म हैं इन्हें सात परिधि कहते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का सृष्टि रचना विषय।

69. Inx 121-we have an account of the creatiog of the world by an amiportent Good out of preexistent matter—Indian philosophy-vo. I-p. 100 by Radha Krishanan. Reprint-Indian Edition-1951.

SWAMI DAYANAND'S VIEWS ON DOMESTIC LIFE

The prophet, the saint, the reformer, the revolutionary, Swami Dayanand Sarswati was also a philosopher and thinker. His *Satyartha Prakash* is not only the light of truth but also a philosopher's Vedic Utopia which is practicable. His vision of the future society is neither obscurantic nor conservative; no doubt it is idealistic, yet it is not purely imaginary. It is free from Thomas More's imaginary wishfulfilment and Aldoux Huxley's satire in 'Brave New World'. His futuristic dream is without the negation as well as negativeness of the negative Utopias of Wells, Orwell or Zamyatin. It is bereft of their pessimism and bitterness. Despite a life full of physical hardships, struggles and loneliness, Swami Dayanand Sarswati did not allow these factors to disturb his vision. His vision is better than Gandhi's concept of Ram Rajya; it is based on the *shastras* and truth; it is scientific in several respects. In a phrase, it is a blend of science and religion, philosophy and experiment. In a remarkably orthodox society and conservative age full of medieval beliefs and superstitions, he voiced modernism and brought about a social change. In a period dominated by class and caste-distinctions, child marriages, sati-system, denial of equal rights to women, Swami Dayanand took up the work of social reform in his hands and guided our society through darkness and ignorance to real light. He was a peaceful

and peace-loving revolutionary who like Gandhi believed in the fairness of ends and means and like Budha believed in non-violence. Though himself an opponent of the Hindu theory of *Sagun Upasana* (the worship of the form), he was like an *avatar* who had appeared to salvage the suppressed community of the Hindus. He brought order into their disordered and disrupted life and set their religion free from dross and ash.

Swamiji's vision of life, and particularly of *Grihastha* (domestic life) is wholesome, complete and all-pervasive. He looks at life from birth to death and even beyond death. He puts body and soul together, and like Chirst recommends to give unto Ceasar what is Caesar's and unto God what is God's. He looks at all aspects and stages of life and visualizes a classless and casteless society without knowing Marx. To the socialists he is a liberal socialist, to the communists he is an ideal comunist who wanted to bring about equality in society by peaceful means, and to the capitalists he seems to be a champion of capitalism. In fact, he is *sui generis*, beyond categories and classifications and isms. He is Maharshi.

Though a *brahmachari* and *sanyasi* himself, Swami Dayanand regarded the Grahisthaya stage of life as the crown of human life. A person craving for the blessings of life and for Moksha must pass through the stage of a householder. Moksha is not arrival in another world or place but the liberation of soul from earthly attachments and realization of the Supreme Being. Domestic life full of contentment and virtue, led in accordance with *dharma* is not an obstacle in the

realization of God but a sure path to Him. Hence it is the crown of all the stages of life. Writing in the *Satyartha Prakash*, the Swami says that after completing his education including the study of at least one veda, the taintless brahmchari is entitled to go in for matrimony, and thereby embark on the life of a householder. The two contracting parties should be remote in blood and should be residing a fair distance apart. The young boy and the girt should not have played with each other in infancy or childhood. The basis for all this is that too much familiarity may breed contempt with the consequence of unpleasantness in material life Alliance should not be made in families lacking in human virtues or devoid of saintly souls or suffering from dysentry, tuberculosis, apoplexy and contagious diseases, or lacking in spiritual health. Instead of reading the horoscople, the propsective parties should examine the health of the contracting parties—that is the implicit message of the Swami.

Swami Dayanand rejects child-marriages and recommends only adult marriages. He says that it is better to remain un-married than be wedded to a boy or a girl of acidic tongue; or of rebellious nature or of a romantic bent of mind. A success-ful married life is one where the bride and bridegroom live a life of harmony. Quoting Manu, he affirms that the family, where woman is duly honoured, becomes the abode of gods. He is in favour of widow-marriages in certain cases.

A marriage should be performed in the physical presence of a few friends and relations as witnesses, and of the sacrificial

fire (*Havan*) to the accompaniment of Vedic hymns. He gives the total nomenclature of marriage in the *Sanskar Vidhi*. Swami Dayanand Sarswati identifies three categories of marriage in terms of inferior, medium and superior marriage, based on age. Superior marriage is that in which the male is of 48 years of age and the female of 24. But the best form of marriage is that of self-choice in which both partners make sure that they suit each other in terms of qualities and temperaments.

Dayanand enumerates and defines each of the eight kinds of marriage as follows :

Brahma— based on mutual consent and practice of *brahmacharya*.

Deva— When daughter is given over to one who officiates over a yajna.

Arsha— When father gives away his daughter after receiving something from the bridegroom.

Prajapatya--when both the parties enter into a matrimonial alliance with the sole object of furthering the cause of religion.

Asura— solemnized after both the bride and the bridegroom have been bribed.

Gandharva— When both the parties in mutual lust agree to enter into a marriage alliance in utter disregard to all social laws.

Rakshasa— Fraudulent abduction of a maiden from her home.

Paishacha- forcible seduction of a girl while she is sleeping, intoxicated or disordered in intellect.

Dayanand quotes Manu to point out how the married couples should conduct themselves after the marriage. They need to perform the five great yajnas daily. He defines each of the five as follows :—

1 *Brahmayajna*— advancement in knowledge, culture, righteousness and refinement of manners.

2. *Agnihotra or Devayajna*— The purification of air, rain and water and thereby conduces the happiness of the world. Agnihotra purifies air, water, etc.

3. *Pitri yajna*— The service of father, mother, learned persons and great souls leads to the increase of knowledge and wisdom. It helps a man to dsicriminate between right and wrong. The faithful performance of this yajna saves us from the charge of ingratitude.

4. *Valivashwadeva yajna*— Place on the ground some food for dogs, fallen wretches, outcasts and for those afflicted with terrible diseases such as leprosy, birds (as crows) and insects (as ants).

5. *A ithi yajna*— An atithi is one whose date of coming is not certain. A house-holder must serve a sanyasi, brahmachari, preacher and a yogi, etc. with good food, drink and clothes.

The Satyartha Prakash also offers suggestions for leading a blissful, happy married life. It should be led in accordance with *dh rma* (religion). Dharma is right conduct which means

performing actions according to Shastric injunction, avoiding bad company, and seeking and keeping the company of the wise and the learned, advocating the path of truth and attachment to truth, and doing good things in life which ensure to the welfare of fellow beings. Conduct contray to it is misconduct.

Swami Ji once answered the question how to beget good children in the following manner : "Aryas of yore used to perform Vedic *samskaras* (rituals), and led a virtuous life, with the result that their children were brave, robust and refined. But people in these days have become more sensual and give priority to sensual pleasures. Malpractices and pernicious customs prevail in their homes. That is why their children are weak, deformed, wayward and wretched." (Raghunath Prasad/ Pathak, *Teachings of Swami Dayanand*, Vishveshvaranand Institute, Hoshiarpur, 1973. p.5).

Similarly injunctions on other areas about how to lead the life in *grihasthaya* are scattered in the Satyartha Prakash. Swami ji does not recommend an escape from domestic life, but he recommends to live the household life like a yogi of grihasthaya to attain fulfilment of life.. He knows the importance of domestic life without which there shall neither be sanyasis nor brahmacharis.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के—

कुलपति जी की बर्मिघंम यात्रा का संक्षिप्त विवरण

प्रस्तुतकर्त्ता—डॉ० राकेश शास्त्री, संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा वरमिघम में आयोजित १३ वें राष्ट्रमण्डलीय विश्वविद्यालय सम्मेलन में भाग लेने के लिये ११ अगस्त की शाम को वरमिघम पहुंचे। तथा १२ १३ अगस्त को विश्वविद्यालय के केम्पस में सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन में लीवर ह्यूम रिपोर्ट पर बहस हुई। इस रिपोर्ट में बिट्रेन के विश्वविद्यालयों को फिर से दो वर्ष का डिग्री कोर्स अपनाने के लिये प्रेरित किया गया था। इस विषय पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति जी ने अपने विचार दो वर्ष के पाठ्यक्रम के पक्ष में प्रस्तुत किये। उनके शब्दों में—"यदि तीन वर्षों में छः-छः मास विश्वविद्यालय बन्द रहे तो तीन वर्ष का लाभ क्या हुआ। यदि दो वर्ष में विद्यार्थी २७०-२५० दिन काम करे तो अधिक लाभ होगा।"

इसी सम्मेलन में विश्वविद्यालय के अनुसंधान कार्यों को जन साधारण तक पहुँचाने की दशा में विश्वविद्यालय के कर्तव्यों पर भी चर्चा की गई। इस संदर्भ में कुलपति जी ने गुरुकुलीय प्रणाली, कार्य विधि के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किये।

१५ अगस्त को वरमिंघम विश्वविद्यालय के भव्य हाल में सर ऐलिक मेरिसन, अध्यक्ष राष्ट्रमण्डल विश्वविद्यालय के स्वागत

भाषण से कान्फ्रेन्स का शुभारम्भ हुआ। इस कान्फ्रेंस के मुख्य अतिथि राष्ट्रमण्डलल के जनरल सेक्रेट्री श्री दत्त रामफल थे। उन्होंने अपने भाषण में विश्व की वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डालते हुये विश्वविद्यालयों द्वारा समाज में बौद्धिक और नैतिक नीवें प्रतिष्ठित करने और सार्वभौम भविष्य के निर्माण के लिये प्रबुद्ध स्नातकों को तैयार करने की आवश्यकता पर बल दिया। भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा निरन्तर प्रशिक्षण और ग्राम सुधार की गोष्ठियों की चर्चा की गयी। इस कान्फ्रेंस का मुख्य विषय "तकनीकी आविष्कार और विश्वविद्यालयों की भूमिका" था। इसी विषय को लेकर पांच गोष्ठियों का निर्माण किया गया। १—तकनीकी आविष्कार के सामाजिक परिणाम। २—सर्वाङ्गीण ग्राम सुधार में विश्वविद्यालय की भूमिका। ३—विश्वविद्यालयों और उद्योगों का परस्पर सहयोग। ४—तकनीकी ज्ञान का विकास और प्रसार। ५—निरन्तर शिक्षा। इनमें से श्री हूजा जी में दूसरी और पांचवी गोष्ठियों में भाग लेते हुए ग्रामीण सुधार के सम्बन्ध में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख किया। इसके अतिरिक्त इस गोष्ठी में मदुराई गांधी ग्राम रूरल इन्स्टीट्यूट के कुलपति डॉ० आराम ने अपना पत्र पढ़ा तथा रांची के कुलपति श्री धान ने अपने विचार प्रकट किये।

निरन्तर शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुये कुलपति जी ने भारत के ऋषि मुनियों द्वारा ग्रतिपादित शिक्षा प्रणाली पर प्रकाश डालते हुये ऋषि दयानन्द की गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली कीं विस्तार से चर्चा की। और कहा कि—"शिक्षा का लक्ष्य विद्यार्थी में स्वाध्याय की निरन्तर शिक्षा की जिज्ञासा उत्पन्न करना होना चाहिये। विश्वविद्यालय का कार्य केवल डिग्री प्रदान करना ही नही है। इसी प्रसंग

में निरन्तर शिक्षा के साधनों पर प्रकाश डालते हुये रेडियो सिनेमा वीडियों, टेपरिकार्ड दूरदर्शन आदि के द्वारा ग्रामीण जनता को निरन्तर अनुसन्धान की गई नयी-नयी तकनिकियों से शिक्षित करने की आवश्यकता पर बल दिया। और कहा—राष्ट्र के राजनैतिक नेताओं अफसरों, कर्मचारियों, कारखानेदारों, किसानों, मजदूरों के पास अपार शक्ति है। आवश्यकता है दिशा निर्देशन की ध्रुवमार्ग दिखाने की यह है कार्य आज के युग में विश्वविद्यालयों का।"

हेमवर्ग के डाक्टर जोगेन्द्र मल्होत्रा के सौजन्य से लूनीवर्ग की ईस्ट एकेडमी में चल रहे सेमीनार वरमिंघम से १३वे कामन वेल्थ विश्वविद्यालय के सम्मेलन के निष्कर्षों एवं तीसरी दुनियाँ की शिक्षा समस्याओं पर आयोजित अध्यापकों की संगोष्ठी में कुलपति जी ने भाग लिया।

इस संगोष्ठी में इन्होंने गंगा योजना, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का लक्ष्य भारत के विरूद्ध हो रहे मिथ्या प्रचार आदि के सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपने ओजस्वी एवं तर्क पूर्ण विचार प्रस्तुत किये। जो वहां के लोगों द्वारा अत्यधिक पसन्द किये गये। इसी प्रसंग ने भारतीय एवं जर्मन बुद्धिजीवि वर्ग के परस्पर सहयोग की भी आवश्यकता पर कुलपति जी द्वारा बल दिया गया।

इसके साथ ही कुलपति श्री हूजा जी की लंदन के प्रधान प्रौफेसर श्री भारद्वाज के साथ बातचीत हुई। उनके साथ वे लंदन ओरियन्टल स्कूल भी गये। इस विषय में एक बात का उल्लेख कुलपति जी ने विशेष रूप से किया है कि जिस मौहल्ले में प्रोफेसर मल्होत्रा रहते हैं वहां के चर्च के लिये सभी मोहल्ले वासियों को जबरन टैक्स देना पड़ता है और यह आय का २.५% कर के रूप में होता है। इस आय

से ही चर्च अपनी विचारधारा प्रसारित करने में सफल होता है। इसके अतिरिक्त चार भाषाओं में प्रकाशित बाईबिल से उद्धरणों से युक्त एक ग्रन्थ भी इन्होंने देखा। यह सब देखकर कुलपति जी के मन में आया कि गुरुकुल कांगड़ी का आर्यसमाज भी इस प्रकार का कार्य क्या अपने हाथ में ले सकता है जब ऐसा हो सकेगा तभी हम ऋषि ऋण से अनृण हो सकेगें।

□□

समाचार खण्ड—

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के

दीक्षान्त समारोह

१५अप्रैल, १९८३-२५ चैत्र, १९०५ (शक)

के अवसर पर भारत के राष्ट्रपति श्री जैलसिंह के भाषण का सारांश

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में शामिल होकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है। इस अवसर पर आपने जो मुझे सम्मान दिया है और जो प्यार भरे शब्द कहे हैं, उनके लिए मैं आपका आभारी हूं।

शिक्षा संस्थाएं पवित्र स्थान होते हैं और यह स्थान तो और भी अधिक पवित्र और ऐतिहासिक है, क्योंकि इसका पौधा हमारे स्वतन्त्रता सेनानी और पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा लगाया गया था। हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है कि यह विश्वविद्यालय हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों की गुरुकुल परम्परा पर आज से ८१ वर्ष पहले स्थापित किया गया था, जिसका उद्देश्य वैदिक शिक्षा के अलावा अन्य सभी विषयों की शिक्षा, भारतीय-भाषाओं, खास तौर से, हिन्दी के माध्यम से देना है। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि इस विश्वविद्यालय के आचार्यों ने फिजिक्स, कैमिस्ट्री, बांटनी. इकोनोमिक्स, मनोविज्ञान और राजनीति-शास्त्र जैसे विषयों में हिन्दी पुस्तकें तैयार की और हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया।

आज का युग विज्ञान का युग है। दर-असल, वैदिक युग भ विज्ञान का युग था। वेदों में विज्ञान के मूल मन्त्र पाये जाते हैं, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल से ही भारत विज्ञान और टैक्नोलाजी के क्षेत्र में बहुत आगे था। यह विश्वविद्यालय बधाई का

का पात्र है कि यहां विज्ञान के विषयों की शिक्षा भी भारतीय भाषा में दी जाती है।

शिक्षा उद्देश्य व्यक्ति का शरीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करना है, जिससे कि वह समाज का एक उपयोगी अंग बन सके। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि इस विश्वविद्यालय में पढ़ाई के साथ-साथ सदाचार और चरित्र निर्माण पर भी विशेष बल दिया जाता है। आज के इन नौजवानों के हाथों में ही कल के भारत की वागडोर होगी। राष्ट्र की आजादी के लिए जिन हजारों नेताओं और वीरों ने कुर्बानियां दी थीं, जिन माताओं और बहिनों ने अपार कष्ट और मुसीबतें झेली थी, उस आजादी की रक्षा करना अब इन नौजवानों की जिम्मेदारी है। आज देश में साम्प्रदायिकता और क्षेत्रवाद की ताकतें फिर से सर उठा रही है। राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए इन चुनौतियों का डटकर मुकावला करना होगा। शिक्षा संस्थाओं में उग्रवादी तत्वों को भी शरण नहीं देनी चाहिए।

मुझे आशा है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय अपनी गुरुकुल की प्राचीन शिक्षा पद्धति के साथ-साथ, शिक्षा जगत् में हुई नई उपलब्धियों का भी लाभ उठाते हुए उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता जाएगा और देश के नव-निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान देगा।

इन शब्दों के साथ, मैं फिर एक बार चांसलर महोदय और यहाँ के कुलपति को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे इस गौरवपूर्ण समारोह में शामिल होने का निमन्त्रण दिया। मैं आज यहां उपाधियां प्राप्त करने वाले नौजवानों को भी बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि वे अपने असली जीवन में उन पवित्र आदर्शों को अपनाते रहेंगे, जिनकी शिक्षा-दीक्षा इस विश्वविद्यालय में उन्होंने ली है। जयहिन्द

विश्वविद्यालय प्रगति के पथ पर—

दीक्षान्त समारोह

के अवसर पर

कुलपति बलभद्र कुमार हूजा के स्वागत भाषण का सारांश

महामहिम राष्ट्रपति जी, कुलाधिपति जी विशिष्ट अतिथिगण, सहयोगियों देवियों, सज्जनों एवं ब्रह्मचारियों !

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वार्षिक दीक्षांत समारोह पर आप सबका हार्दिक अभिनन्दन करने का अवसर पाकर मैं गौरव मिश्रित प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। महामहिम राष्ट्रपति जी का मैं विशेष रूप से आभारी हूं। कार्य की अधिकता के रहते हुए भी उन्होंने हमारे निमन्त्रण को स्वीकार करने की कृपा की तथा अपनी गरिमामयी उपस्थिति से इस समारोह की शोभा बढ़ाई। आजादी के निर्भीक योद्धा तथा राष्ट्र के प्रथम नागरिक को अपने बीच पाकर सारा गुरुकुल परिवार आज आनन्द विभोर हो उठा है।

श्रीमन्,

आपका सारा जीवन देश भक्ति त्याग, बलिदान, समर्पण, अन्याय का मुकाबला तथा कमजोत वर्गों के प्रति क्रियात्मक सहानुभूति का शानदार प्रतीक रहा है। अतीत की उल्लेखनीय परम्पराओं को अपने में समेट कर, धूल भरे आदमी से लेकर महल में बैठे हुए चमकीले वैभव पिण्ड तक सबकी भलाई का संकल्प आपने किया हुआ है। इसीलिए आपकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आत्मिक ऊंचाईयां तीनों कालों से जुड़ी हैं। राष्ट्र की वर्तमान परिस्थितियों में आपका सन्त जीवन प्रकाश का केन्द्र बिन्दु है। टूटते हुए देश को संगठित और दृढ़ करने में आपका आत्म विश्वास दृढ़ निर्णय, निश्चय ही प्रेरणा-

दायक सिद्ध हुआ है। भारतीय भाषाओं के प्रति आपकी निष्ठा देखकर पहली बार लगा कि राष्ट्र ने अपनी अस्मिता और मौलिकता को फिर एक बार पहचान लिया है।

मित्रो,

वार्षिक दीक्षांत समारोह गतवर्ष की गतिविधियों को संक्षेप में प्रस्तुत करने का एक उपयुक्त अवसर होता है। अपने स्थापना काल से लेकर ८३ वर्षों के इस विशाल अन्तराल में इस विश्वविद्यालय ने आत्मविश्वास, परिपक्वता एवं स्वालम्बन का एक ऊंचा तथा निश्चित स्तर प्राप्त कर लिया है। इस शिक्षा संस्थान ने अध्ययन-अध्यापन, अनुसंधान और विस्तार के कार्यों के साथ-साथ विद्यार्थी को सच्चे अर्थों में मानव बनाने की दिशा में सराहनीय कार्य किया है। अपने विकास की प्रक्रिया में यह विश्वविद्यालय उस प्राचीन वैदिक शिक्षा के दर्शन से प्रभावित रहा है जिसमें ब्रह्मचर्य के पालन तथा गुरु शिष्य के माध्यम से सम्पूर्ण व्यक्तित्व से मण्डित एक स्नातक का निर्माण होता है। योग्य चरित्रवान् राष्ट्रभक्त स्नातकों का निर्माण सदा हमारा लक्ष्य रहा है जो ज्ञान और प्रचण्ड कर्म की गङ्गा में स्नान कर निर्मल हो चुके हों।

आधुनिक भारत की शैक्षिक क्रांति के पुरोधा स्वामी श्रद्धानन्द ने हिमालय पर्वत की तलहटी गङ्गा नदी के पूर्व तट पर कांगड़ी ग्राम में १९०२ में गुरुकुल का स्थानान्तरण किया। भारत और विश्व के पुन–निर्माण के लक्ष्य को सामने रखते हुए महर्षि दयानन्द ने जिस प्रकार की शिक्षा पर बल दिया था, उन्हीं आदर्शों से प्रभावित होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल आन्दोलन का सूत्रपात किया। यह सुविदित है कि गत ८३ वर्षों में गुरुकुल ने देश को ऊंची कोटि के विद्वान्, स्वतन्त्रता सैनानी, पत्रकार और चिकित्सक दिये हैं।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम—मनुस्मृति (एक समीक्षात्मक अनुशीलन)
लेखक—प्रो० सुरेन्द्र कुमार
राजकीय महाविद्यालय झज्जर (हरियाणा)
प्रकाशक—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमलानगर दिल्ली ११००७
पृष्ठ—८६० पुस्तक साइज १८×२२ इंच, मूल्य ५० रुपये

'मनुस्मृति' मनु महाराज द्वारा प्रणीत श्रुत्यर्थ पर आधारित अत्यन्त प्राचीन आर्ष ग्रन्थ है। अब तक है। अब तक उपलब्ध मनु स्मृतियों का कलेवर समय-समय पर जोड़े गये प्रक्षिप्त अंशों से बड़ा विपुल हो गया था। प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता यह कि उसे प्रक्षिप्त भाग से दूर रखा गया है। इतना ही नहीं बल्कि कितना अंश क्यों प्रक्षिप्त है इसका सहेतुक प्रतिपादन किया गया है। आर्य जगत् सुदीर्घ काल से 'मनुस्मृति' के ऐसे प्रामाणिक प्रक्षिप्तांश रहित एवं मौलिक प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा था जो महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुरूप और वेदार्थ के अनुकूल हो। मनीषी लेखक प्रो० सुरेन्द्र कुमार ने निरन्तर परिश्रम करके आर्य जनता के चिराभिलाषित इस महनीय कार्य को सम्पन्न कर दिया है।

मनुस्मृति का अध्ययन करते समय कुछ श्लोक मन को खटकते थे। यज्ञों में पशु हिंसा को वेदविहित और धर्म का हेतु सिद्ध करने के लिये मनुस्मृति का प्रायः यह श्लोक उद्धृत किया जाता है—

औषधयः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः ॥५.४५॥

अर्थात् ओषधियां पशु वृक्ष और पक्षी यज्ञ के लिये मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार निम्न श्लोक में स्पष्ट ही यज्ञ में पशु बलि का विधान सिद्ध हो रहा है—

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु,
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु ॥ ३.२६८ ॥

अर्थात् श्राद्ध में मछली का मांस खाने से दो महीने तक, हरिण के मांस से तीन मांस तक, मेंढे के मांस से चार मास तक और पक्षी के मांस से पाँच महीने तक पितर तृप्त होते हैं।

इन उद्धरणों को पढ़कर मन स्वयं से प्रश्न करता था कि क्या सचमुच मनु ने पशु बलि का आदेश दिया है किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ

का आद्योपान्त अनुशीलन करके उक्त आंशका निर्मूल सिद्ध हुई। विद्वान् लेखक ने प्रसंग विरोध का हेतु उपन्यस्त करके जिस ढंग से पशु हिंसा का विरोध किया है वह बुद्धि और हृदय दोनों के लिये स्वीकरणीय बन जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रक्षेप—परिहार भी हृदयावर्जक है।

प्रस्तुत 'मनुस्मृति' की अनन्यलभ्य विशेषता यह भी है कि इसमें भिन्न-भिन्न प्रतियों में यत्र तत्र विकीर्ण मौलिक श्लोकों का श्रमसाध्य संकलन है। जिज्ञाशु जन इससे उपयुक्त अनुभव करेंगे ऐसी आशा है। प्रक्षेपकर्त्ताओं ने वस्तुतः मनुस्मृति के साथ बड़ा अन्याय किया है। सत्य, न्याय धर्म और कर्त्तव्य के वास्तविक स्वरूप बोध में पर्याप्त व्यवधान इन प्रक्षिप्त श्लोकों ने उपस्थित कर दिया था। लेखक ने उक्त अनभीष्ट अंश की प्रक्षिप्तता के सिद्ध्यर्थ और उसके परिहारार्थ जो हेतु गृहीत किये हैं उनका आधार है—

विषय विरोध, प्रसंग विरोध, अन्तर्विरोध, पुनरुक्ति, शैली विरोध अवान्तर विरोध तथा वेदार्थ विरोध।

उक्त आधारों का सम्वल ग्रहण करके वेद प्रतिपादित अर्थ की स्थापना वस्तुतः एक दुष्कर कार्य है। यद्यपि इससे पूर्व महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति के प्रक्षिप्तांश की ओर संकेत किया था। जैसे सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में—

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ ५.५६॥

इस श्लोक को प्रक्षिप्त माना है। किन्तु उसका सहेतुक प्रतिपादन पहली बार ही प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्व और भी बढ़ जाता है। महर्षि दयानन्द ने अपने अनेक ग्रन्थों में मनुस्मृति के जिन श्लोकों की व्याख्या की है वह व्याख्या बिना किसी टीका टिप्पणी के लेखक ने ज्यों की त्यों इस ग्रन्थ में रख दी है, जिससे जिज्ञासु पाठकों को एकत्र ही महर्षि का मन्तव्य ज्ञात हो सके। ग्रन्थ की विशेषताओं की श्रृंखला में यह भी एक कड़ी है।

इस प्रकार अनेकानेक नूतन विशेषताओं से विभूषित यह ग्रन्थ रत्न सचमुच जिज्ञासु आर्यजनों और मानव मात्र के लिये महान् उपयोगी है। अतएव अनुशीलनीय और श्लाघनीय है।

डॉ० जयदेव वेदालंकार
अध्यक्ष दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

(कुल पृष्ठ—२९८)